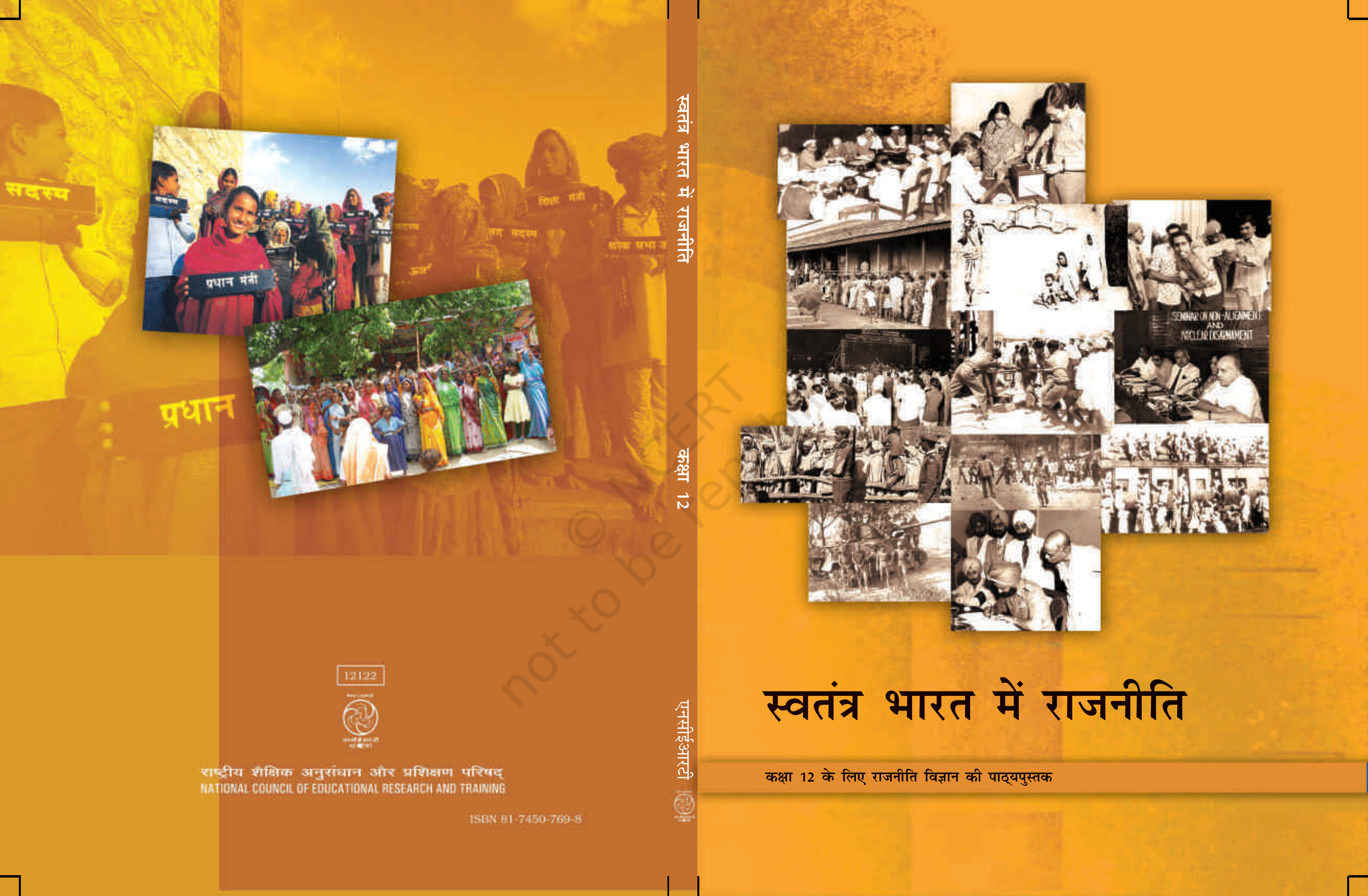




प्रधान

स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12

एनसीईआरटी



12122



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 81-7450-769-8



स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

कांग्रेस प्रणाली : चुनौतियाँ और पुनर्स्थापना



राजनीतिक उत्तराधिकार की चुनौती

1964 के मई में नेहरू की मृत्यु हो गई। वे पिछले एक साल से भी ज्यादा समय से बीमार चल रहे थे। इससे नेहरू के राजनीतिक उत्तराधिकारी को लेकर बड़े अंदेशे लगाए गए कि नेहरू के बाद कौन? लेकिन, भारत जैसे नव-स्वतंत्र देश में इस माहौल में एक और गंभीर सवाल हवा में तैर रहा था कि नेहरू के बाद आखिर इस देश में होगा क्या?

भारत से बाहर के बहुत से लोगों को संदेह था कि यहाँ नेहरू के बाद लोकतंत्र कायम भी रह पाएगा या नहीं। दूसरा सवाल इसी संदेह के दायरे में उठा था। आशंका थी कि बाकी बहुत से नव-स्वतंत्र देशों की तरह भारत भी राजनीतिक उत्तराधिकार का सवाल लोकतांत्रिक ढंग से हल नहीं कर पाएगा। असफल रहने की सूरत में भय था कि सेना राजनीतिक भूमिका में उतर आएगी। इसके अतिरिक्त, इस बात को लेकर भी संदेह थे कि देश के सामने बहुविध कठिनाइयाँ आन खड़ी हैं और नया नेतृत्व उनका समाधान खोज पाएगा या नहीं। 1960 के



फ्रांस और

कनाडा में ऐसी

सूरत कायम हो, तो

वहाँ कोई भी लोकतंत्र के

असफल होने अथवा देश के

टूटने की बात नहीं कहता। हम ही

आखिर लगातार

इतने शक में क्यों पड़े

रहते हैं?



लालबहादुर शास्त्री

(1904-1966) : भारत के दूसरे प्रधानमंत्री; 1930 से स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी की; उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल में मंत्री रहे; कांग्रेस पार्टी के महासचिव का पदभार सँभाला; 1951-56 तक केंद्रीय मंत्रिमंडल में मंत्री पद पर रहे। इसी दौरान रेल-दुर्घटना की नैतिक जिम्मेवारी लेते हुए उन्होंने रेलमंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया था। बाद में, 1957-64 के बीच भी मंत्री पद पर रहे। आपने 'जय जवान-जय किसान' का मशहूर नारा दिया था।

“

तमाम अदेशों के बावजूद इंग्लैंड की तुलना में भारत में प्रधानमंत्री का सवाल ज्यादा शालीनता और तेजी के साथ हल कर लिया गया”

3 जून, 1964 के गार्जियन में प्रकाशित संपादकीय। इस संपादकीय में इंग्लैंड और भारत के राजनीतिक घटनाक्रमों की तुलना करते हुए यह बताया गया है कि भारत में जहाँ नेहरू की मृत्यु के बाद नए प्रधानमंत्री के सवाल को जल्दी ही हल कर लिया गया वहीं इंग्लैंड में हैरॉल्ड मैकमिलन के बाद नए प्रधानमंत्री का मामला लंबे समय तक खिंचता रहा।

दशक को 'खतरनाक दशक' कहा जाता है क्योंकि गरीबी, गैर-बराबरी, सांप्रदायिक और क्षेत्रीय विभाजन आदि के सवाल अभी अनसुलझे थे। संभव था कि इन सारी कठिनाइयों के कारण देश में लोकतंत्र की परियोजना असफल हो जाती अथवा खुद देश ही बिखर जाता।

नेहरू के बाद शास्त्री

नेहरू के उत्तराधिकारी का सवाल इतनी आसानी से हल कर लिया गया कि आलोचक ठगे-से रह गए। नेहरू की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष के. कामराज ने अपनी पार्टी के नेताओं और सांसदों से सलाह-मशविरा किया। उन्होंने पाया कि सभी लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में हैं। शास्त्री, कांग्रेस संसदीय दल के निर्विरोध नेता चुने गए और इस तरह वे देश के प्रधानमंत्री बने। शास्त्री, उत्तर प्रदेश के थे और नेहरू के मंत्रिमंडल में कई सालों तक मंत्री रहे थे। उनको लेकर कभी किसी किस्म का विवाद नहीं उठा था। अपने आखिरी सालों में नेहरू उन पर ज्यादा-से-ज्यादा निर्भर होते गए थे। शास्त्री अपनी सादगी और सिद्धांत निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे। एक दफा वे एक बड़ी रेल दुर्घटना की नैतिक जिम्मेवारी स्वीकार करते हुए रेलमंत्री के पद से इस्तीफा दे चुके थे।

शास्त्री 1964 से 1966 तक देश के प्रधानमंत्री रहे। इस पद पर वे बड़े कम दिनों तक रहे लेकिन इसी छोटी अवधि में देश ने दो बड़ी चुनौतियों का सामना किया। भारत, चीन युद्ध के कारण पैदा हुई आर्थिक कठिनाइयों से उबरने की कोशिश कर रहा था। साथ ही मानसून की असफलता से देश में सूखे की स्थिति थी। कई जगहों पर खाद्यान्न का गंभीर संकट आन पड़ा था। फिर, 1965 में पाकिस्तान के साथ भी युद्ध करना पड़ा। इसके बारे में आपने पिछले अध्याय में पढ़ा था। शास्त्री ने 'जय जवान-जय किसान' का नारा दिया, जिससे इन दोनों चुनौतियों से निपटने के उनके दृढ़ संकल्प का पता चलता है।

प्रधानमंत्री के पद पर शास्त्री बड़े कम दिनों तक रहे। 10 जनवरी 1966 को ताशकंद में अचानक उनका देहान्त हो गया। ताशकंद तब भूतपूर्व सोवियत संघ में था और आज यह उज्बेकिस्तान की राजधानी है। युद्ध की समाप्ति के सिलसिले में पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति मोहम्मद अयूब खान से बातचीत करने और एक समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए वे ताशकंद गए थे।

शास्त्री के बाद इंदिरा गाँधी

शास्त्री की मृत्यु से कांग्रेस के सामने दुबारा राजनीतिक उत्तराधिकारी का सवाल उठ खड़ा हुआ। इस बार मोरारजी देसाई और इंदिरा गाँधी के बीच कड़ा मुकाबला था। मोरारजी देसाई बंबई प्रांत (मौजूदा महाराष्ट्र और गुजरात) के मुख्यमंत्री के पद पर रह चुके थे। केंद्रीय मंत्रिमंडल में वे मंत्री पद पर भी रह चुके थे। जवाहरलाल नेहरू की बेटी इंदिरा गाँधी गुजरे वक्त में कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर रह चुकी थीं। शास्त्री के मंत्रिमंडल में उन्होंने सूचना मंत्रालय का प्रभार सँभाला था। इस दफा पार्टी के बड़े नेताओं ने इंदिरा गाँधी को समर्थन देने का मन बनाया लेकिन इंदिरा गाँधी के नाम पर सर्वसम्मति कायम नहीं की जा सकी। ऐसे में फ्रैसले के लिए कांग्रेस के सांसदों ने गुप्त मतदान किया। इंदिरा गाँधी ने मोरारजी देसाई को हरा दिया। उन्हें कांग्रेस पार्टी के दो-तिहाई से अधिक सांसदों ने अपना मत दिया था। नेतृत्व के लिए गहन



साधार: आर.के.लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 18 जनवरी 1966

प्रतिस्पर्धा के बावजूद पार्टी में सत्ता का हस्तांतरण बड़े शांतिपूर्ण ढंग से संपन्न हो गया। इसे भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता के रूप में देखा गया।

नए प्रधानमंत्री को जमाने में थोड़ा वक्त लगा। इंदिरा गाँधी यों तो बड़े लंबे समय से राजनीति में सक्रिय थीं, लेकिन लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमंडल में बड़े कम दिनों से मंत्री पद पर थीं। कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने संभवतया यह सोचकर उनका समर्थन किया होगा कि प्रशासनिक और राजनीतिक मामलों में खास अनुभव न होने के कारण समर्थन और दिशा-निर्देशन के लिए इंदिरा गाँधी उन पर निर्भर रहेंगी। प्रधानमंत्री बनने के एक साल के अंदर इंदिरा गाँधी को लोकसभा के चुनावों में पार्टी की अगुवाई करनी पड़ी। इस वक्त तक

इंदिरा गाँधी (1917-1984) : 1966 से 1977 तक और फिर 1980 से 1984 तक भारत की प्रधानमंत्री रहीं; युवा कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में स्वतंत्रता-आंदोलन में भागीदारी; 1958 में कांग्रेस की अध्यक्ष; 1964-66 में शास्त्री मंत्रिमंडल में केंद्रीय मंत्री के पद पर रहीं। 1967, 1971 और 1980 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को अपने नेतृत्व में विजयी बनाया; 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया; 1971 के युद्ध में जीत का श्रेय और प्रिवी पर्स की समाप्ति, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, आण्विक-परीक्षण तथा पर्यावरण-संरक्षण के कदम उठाए। जवाहरलाल नेहरू की पुत्री; 31 अक्टूबर 1984 के दिन उनकी हत्या कर दी गई।





इंदिरा गाँधी के लिए स्थितियाँ सचमुच कठिन रही होंगी- पुरुषों के दबदबे वाले क्षेत्र में आखिर वे अकेली महिला थीं। ऊँचे पदों पर अपने देश में ज़्यादा महिलाएँ क्यों नहीं हैं?



साभार: रघु राय

देश की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो गई थी। इससे इंदिरा की कठिनाइयाँ ज़्यादा बढ़ गईं। इन कठिनाइयों के मद्देनजर उन्होंने पार्टी पर अपना नियंत्रण बढ़ाने और अपने नेतृत्व कौशल को दिखाने की कोशिश की।

चौथा आम चुनाव, 1967

भारत के राजनीतिक और चुनावी इतिहास में 1967 के साल को अत्यन्त महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है। दूसरे अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि 1952 के बाद से पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का राजनीतिक दबदबा कायम था। 1967 के चुनावों में इस प्रवृत्ति में गहरा बदलाव आया।

चुनावों का संदर्भ

चौथे आम चुनावों के आने तक देश में बड़े बदलाव हो चुके थे। दो प्रधानमंत्रियों का जल्दी-जल्दी देहावसान हुआ और नए प्रधानमंत्री को पद सँभाले हुए अभी पूरे एक साल का

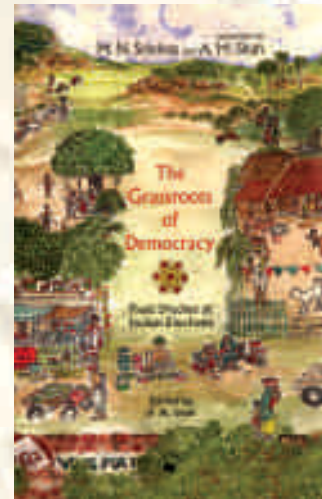
अरसा भी नहीं गुजरा था। साथ ही, इस प्रधानमंत्री को राजनीति के लिहाज से कम अनुभवी माना जा रहा था। इस अध्याय के पूर्ववर्ती हिस्से और तीसरे अध्याय की चर्चा के क्रम में आप यह बात जान चुके हैं कि इस अरसे में देश गंभीर आर्थिक संकट में था। मानसून की असफलता, व्यापक सूखा, खेती की पैदावार में गिरावट, गंभीर खाद्य संकट, विदेशी मुद्रा-भंडार में कमी, औद्योगिक उत्पादन और निर्यात में गिरावट के साथ ही साथ सैन्य खर्च में भारी बढ़ोतरी हुई थी। नियोजन और आर्थिक विकास के संसाधनों को सैन्य-मद में लगाना पड़ा। इन सारी बातों से देश की आर्थिक स्थिति विकट हो गई थी। इंदिरा गाँधी की सरकार के शुरुआती फ़ैसलों में एक था— रुपये का अवमूल्यन करना। माना गया कि रुपये का अवमूल्यन अमरीका के दबाव में किया गया। पहले के वक्त में 1 अमरीकी डॉलर की कीमत 5 रुपये थी, जो अब बढ़कर 7 रुपये हो गई।

आर्थिक स्थिति की विकटता के कारण कीमतों में तेज़ी से इजाफ़ा हुआ। लोग आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, खाद्यान्न की कमी, बढ़ती हुई बेरोजगारी और देश की दयनीय आर्थिक स्थिति को लेकर विरोध पर उतर आए। देश में अकसर 'बंद' और 'हड़ताल' की स्थिति रहने लगी। सरकार ने इसे कानून और व्यवस्था की समस्या माना न कि जनता की बदहाली की अभिव्यक्ति। इससे लोगों की नाराजगी बढ़ी और जन विरोध ने ज्यादा उग्र रूप धारण किया।

साम्यवादी और समाजवादी पार्टी ने व्यापक समानता के लिए संघर्ष छेड़ दिया। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए साम्यवादियों के एक समूह ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनायी और सशस्त्र कृषक-विद्रोह का नेतृत्व किया। साथ ही, इस पार्टी ने किसानों के बीच विरोध को संगठित किया। इस अवधि में गंभीर किस्म के हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी हुए। आज़ादी के बाद से अब तक इतने गंभीर सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए थे।

चुनाव-कथा राजस्थान के एक गाँव की

यह प्रसंग 1967 के विधानसभा चुनावों का है। चोमू नामक निर्वाचन क्षेत्र में कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी आमने-सामने थे। लेकिन उस निर्वाचन क्षेत्र के एक गाँव देवीसर में यह हुआ कि स्थानीय राजनीति का समीकरण कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी के चुनावी गणित से जा उलझा। देवीसर में शेर सिंह नाम के व्यक्ति का दबदबा था। परंतु धीरे-धीरे उसका भतीजा भीम सिंह ज्यादा लोकप्रिय होने लगा था। हालाँकि



दोनों ही राजपूत थे, किन्तु भीम सिंह ने पंचायत का प्रधान बनने के बाद अन्य समुदायों के बीच भी जगह बना ली थी। दरअसल, उसने राजपूतों के अलावा गैर-राजपूत समुदायों को जोड़कर एक नया राजनीतिक समीकरण तैयार कर डाला था। भीम सिंह ने आस पास के गाँवों में ग्राम प्रधान पद के लिए कई उम्मीदवारों को समर्थन देने की घोषणा करके एक गठबंधन-सा तैयार कर लिया। भीम सिंह इतने भर से संतुष्ट नहीं था। वह कांग्रेस नेता और राज्य के मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया के पास एक प्रतिनिधिमंडल लेकर जा पहुँचा। उसने मुख्यमंत्री पर इस बात के लिए दबाव बनाने की कोशिश की कि आगामी विधानसभा चुनावों में उसके एक राजनीतिक सहयोगी को कांग्रेस की तरफ़ से उम्मीदवार बनाया जाए। मुख्यमंत्री सुखाड़िया ने भीम सिंह को समझाया कि ऐसा कर पाना मुश्किल होगा। उल्टे उन्होंने भीम सिंह को अपने मनपसंद उम्मीदवार को समर्थन देने के लिए राजी कर लिया। अब भीम सिंह ने अपने समर्थकों से मुख्यमंत्री द्वारा सुझाए गए उम्मीदवार के लिए काम करने को कहा। दरअसल, भीम सिंह यह बात भलीभाँति जानता था कि अगर कांग्रेसी उम्मीदवार जीत जाता है, तो उसका मंत्री बनना तय है और उसके मंत्री बनने का अर्थ है कि भीम सिंह मंत्री से सीधे संपर्क स्थापित कर सकता है।

शेर सिंह के पास स्वतंत्र पार्टी के उम्मीदवार का साथ देने के अलावा और कोई चारा नहीं था। पार्टी का उम्मीदवार जागीरदार था। गाँव में चुनाव-प्रचार करने के दौरान शेर सिंह लोगों से यही कहता था कि जागीरदार गाँव में स्कूल का निर्माण कराएगा और गाँव के विकास के लिए अपनी जेब से पैसा लगाएगा। खैर, संक्षेप में, देवीसर गाँव में विधानसभा चुनाव चाचा-भतीजे की खेमेबाजी में बदल गया था।

आनंद चक्रवर्ती की पुस्तक *ए विलेज इन चोमू असंबली कॉन्सिटीट्यूंसी इन राजस्थान* पर आधारित।

“

...भारत में जिस तरह की प्रवृत्तियाँ जारी हैं, उनमें एक सुव्यवस्थित समाज रचना को बनाए रखने का काम नागरिक सरकार के हाथों से जाता रहेगा और सेना ही फिर कानून-व्यवस्था बनाए रखने का एकमात्र विकल्प होगी... भारत को लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर विकसित करने का महान प्रयोग असफल हो चुका है...

”

नेविए मैक्सवेल ने उपर्युक्त बातें अपने लेख 'इंडियाज़ डिस्टिंग्विशिंग डेमोक्रेसी' में कही थीं। यह लेख 'लंदन टाइम्स' में प्रकाशित (1967) हुआ था।

गैर-कांग्रेसवाद

यह सारी स्थिति देश की दलगत राजनीति से अलग-थलग नहीं रह सकती थी। विपक्षी दल जनविरोध की अगुवाई कर रहे थे और सरकार पर दबाव डाल रहे थे। कांग्रेस की विरोधी पार्टियों ने महसूस किया कि उसके वोट बँट जाने के कारण ही कांग्रेस सत्तासीन है। जो दल अपने कार्यक्रम अथवा विचारधाराओं के धरातल पर एक-दूसरे से एकदम अलग थे, वे सभी दल एकजुट हुए और उन्होंने कुछ राज्यों में एक कांग्रेस विरोधी मोर्चा बनाया तथा अन्य राज्यों में सीटों के मामले में चुनावी तालमेल किया। इन दलों को लगा कि इंदिरा गाँधी की अनुभवहीनता और कांग्रेस की अंदरूनी उठापटक से उन्हें कांग्रेस को सत्ता से हटाने का एक अवसर हाथ लगा है। समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने इस रणनीति को 'गैर-कांग्रेसवाद' का नाम दिया। उन्होंने 'गैर-कांग्रेसवाद' के पक्ष में सैद्धांतिक तर्क देते हुए कहा कि कांग्रेस का शासन अलोकतांत्रिक और गरीब लोगों के हितों के खिलाफ है इसलिए गैर-कांग्रेसी दलों का एक साथ आना जरूरी है, ताकि गरीबों के हक में लोकतंत्र को वापस लाया जा सके।



सी. नटराजन अन्नादुरई

(1909-1969) : 1967

से मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री; चर्चित पत्रकार, लेखक एवं वक्ता; मद्रास राज्य में जस्टिस पार्टी से संबद्ध; बाद में द्रविड़ कण्ठम (1934) में शामिल; 1949 में द्रविड़ मुन्नेत्र कण्ठम का बतौर राजनीतिक पार्टी गठन; द्रविड़ संस्कृति के समर्थक, हिंदी का विरोध एवं हिंदी विरोधी आंदोलन का नेतृत्व; राज्यों की व्यापक स्वायत्तता के समर्थक।



राममनोहर लोहिया

(1910-1967) :

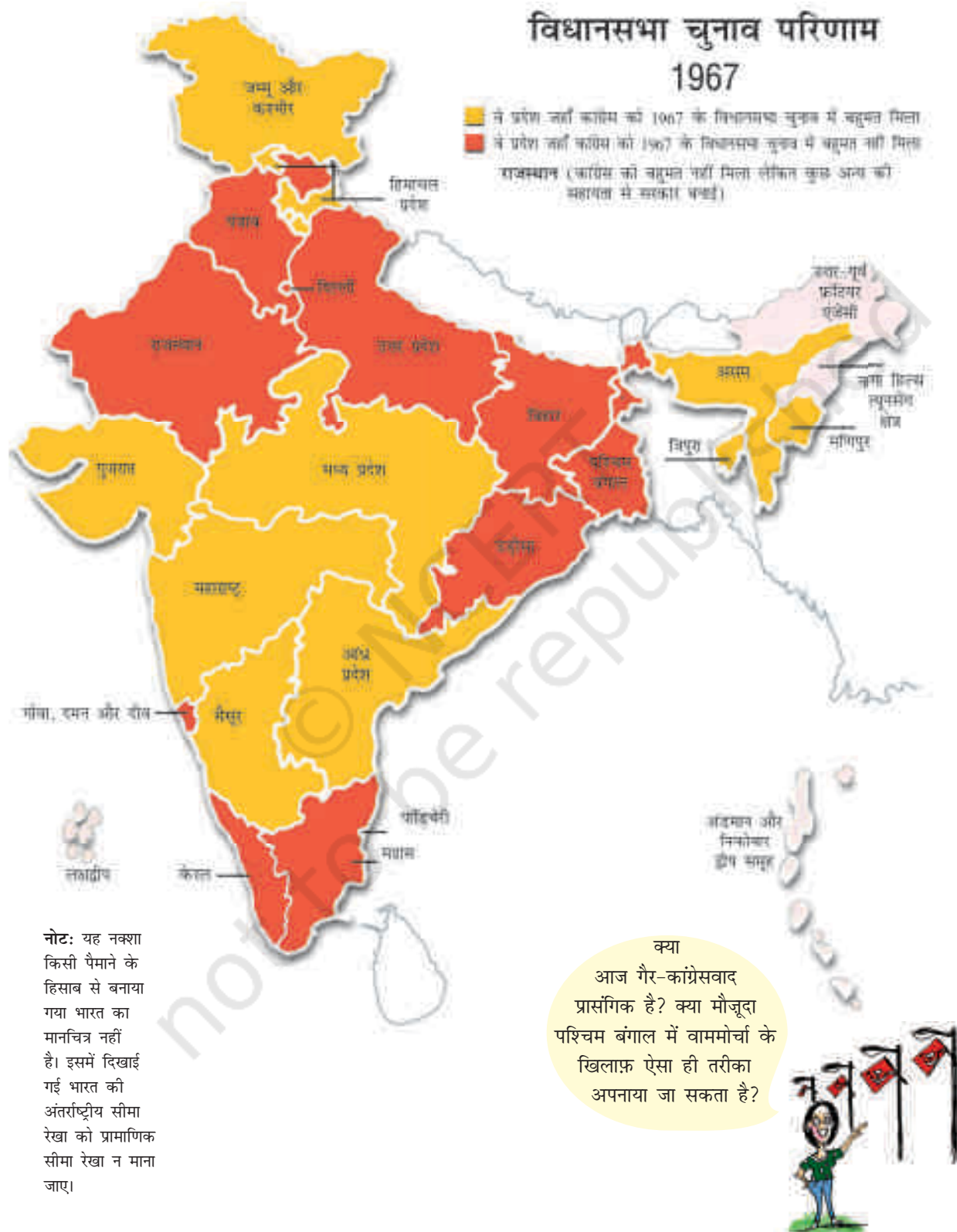
समाजवादी नेता एवं विचारक; स्वतंत्रता-सेनानी एवं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य; मूल पार्टी में विभाजन के बाद

सोशलिस्ट पार्टी एवं बाद में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता; 1963 से 1967 तक लोकसभा सांसद, 'मैनकाइंड' एवं 'जन' के संस्थापक संपादक, गैर-यूरोपीय समाजवादी सिद्धांत के विकास में मौलिक योगदान; विचारधारा का संयोजन; गैर-कांग्रेसवाद के रणनीतिकार, पिछड़े वर्गों को आरक्षण की वकालत और अंग्रेजी विरोध के अलावा ऐसे राजनीतिक नेता के रूप में चर्चित, जिन्होंने नेहरू के खिलाफ मोर्चा खोला।

चुनाव का जनादेश

व्यापक जन-असंतोष और राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण के इसी माहौल में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के लिए 1967 के फरवरी माह में चौथे आम चुनाव हुए। कांग्रेस पहली बार नेहरू के बिना मतदाताओं का सामना कर रही थी।

चुनाव के परिणामों से कांग्रेस को राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर गहरा धक्का लगा। तत्कालीन अनेक राजनीतिक पर्यवेक्षकों ने चुनाव परिणामों को 'राजनीतिक भूकंप' की संज्ञा दी। कांग्रेस को जैसे-तैसे लोकसभा में बहुमत तो मिल गया था, लेकिन उसको प्राप्त मतों के प्रतिशत तथा सीटों की संख्या में भारी गिरावट आई थी। अब से पहले कांग्रेस को कभी न तो इतने कम वोट मिले थे और न ही इतनी कम सीटें मिली थीं। इंदिरा गाँधी के मंत्रिमंडल के आधे मंत्री चुनाव हार गए थे। तमिलनाडु से कामराज, महाराष्ट्र से एस.के. पाटिल, पश्चिम बंगाल से अतुल्य घोष और बिहार से के.बी. सहाय जैसे राजनीतिक दिग्गजों को मुँह की खानी पड़ी थी।



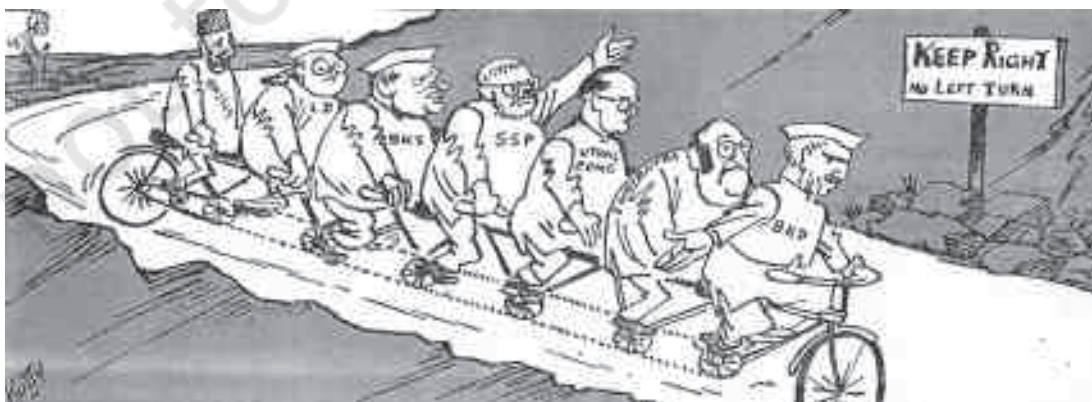
राजनीतिक बदलाव की यह नाटकीय स्थिति आपको राज्यों में और ज्यादा स्पष्ट नज़र आएगी। कांग्रेस को सात राज्यों में बहुमत नहीं मिला। दो अन्य राज्यों में दलबदल के कारण यह पार्टी सरकार नहीं बना सकी। जिन 9 राज्यों में कांग्रेस के हाथ से सत्ता निकल गई थी, वे देश के किसी एक भाग में कायम राज्य नहीं थे। ये राज्य पूरे देश के अलग-अलग हिस्सों में थे। कांग्रेस पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और केरल में सरकार नहीं बना सकी। मद्रास प्रांत (अब इसे तमिलनाडु कहा जाता है) में एक क्षेत्रीय पार्टी द्रविड़ मुनेत्र कणगम पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता पाने में कामयाब रही। द्रविड़ मुनेत्र कणगम (डीएमके) हिंदी-विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करके सत्ता में आई थी। यहाँ के छात्र हिंदी को राजभाषा के रूप में केंद्र द्वारा अपने ऊपर थोपने का विरोध कर रहे थे और डीएमके ने उनके इस विरोध को नेतृत्व प्रदान किया था। चुनावी इतिहास में यह पहली घटना थी जब किसी गैर-कांग्रेसी दल को किसी राज्य में पूर्ण बहुमत मिला। अन्य आठ राज्यों में विभिन्न गैर-कांग्रेसी दलों की गठबंधन सरकार बनी। उस समय आमतौर पर कहा जाता था कि दिल्ली से हावड़ा जाने के लिए ट्रेन पर बैठो, तो यह ट्रेन अपने पूरे रास्ते में एक भी कांग्रेस-शासित राज्य से होकर नहीं गुज़रेगी। लोग कांग्रेस को सत्तासीन देखने के अभ्यस्त थे और उनके लिए यह एक विचित्र अनुभव था। तो क्या मान लिया जाए कि कांग्रेस का दबदबा खत्म हो गया?

त्रिशंकु
विधानसभा और
गठबंधन सरकार की इन
बातों में नया क्या है? ऐसी
बातें तो हम आए दिन
सुनते रहते हैं।



गठबंधन

1967 के चुनावों से गठबंधन की परिघटना सामने आयी। चूँकि किसी पार्टी को बहुमत नहीं मिला था, इसलिए अनेक गैर-कांग्रेसी पार्टियों ने एकजुट होकर संयुक्त विधायक दल बनाया और गैर-कांग्रेसी सरकारों को समर्थन दिया। इसी कारण इन सरकारों को संयुक्त विधायक दल की सरकार कहा गया। अधिकतर मामलों में ऐसी सरकार के घटक दल विचारधारा के लिहाज से एक-दूसरे से भिन्न थे। मिसाल के लिए बिहार में बनी संयुक्त विधायक दल की सरकार में दो समाजवादी पार्टियाँ—एसएसपी और पीएसपी—शामिल थीं। इनके साथ इस सरकार में वामपंथी—सीपीआई और दक्षिणपंथी जनसंघ—भी शामिल थे। पंजाब में बनी संयुक्त विधायक दल की सरकार को 'पॉपुलर यूनाइटेड फ्रंट' की सरकार कहा गया। इसमें उस वक्त के दो परस्पर प्रतिस्पर्धी अकाली दल—संत ग्रुप और मास्टर ग्रुप शामिल थे। इनके साथ सरकार में दोनों साम्यवादी दल सीपीआई और सीपीआई (एम), एसएसपी, रिपब्लिकन पार्टी और भारतीय जनसंघ भी शामिल थे।



साभार: कुड़ी

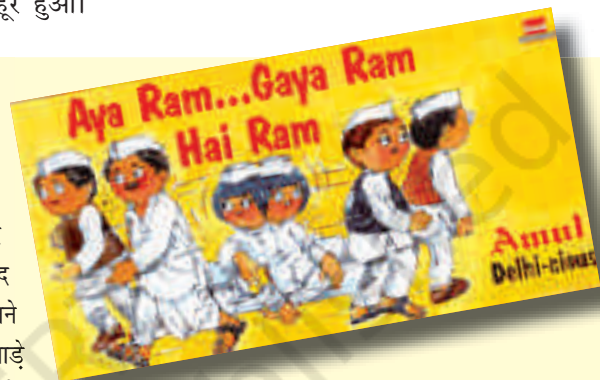
1974 में गैर-साम्यवादी दलों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशों पर कार्टूनिस्ट का नज़रिया।

दल-बदल

1967 के चुनावों की एक खास बात दल-बदल भी है। इसने राज्यों में सरकारों के बनने-बिगड़ने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कोई जनप्रतिनिधि किसी खास दल के चुनाव चिह्न को लेकर चुनाव लड़े और जीत जाए और चुनाव जीतने के बाद इस दल को छोड़कर किसी दूसरे दल में शामिल हो जाए, तो इसे दल-बदल कहते हैं। 1967 के आम चुनावों के बाद कांग्रेस को छोड़ने वाले विधायकों ने तीन राज्यों—हरियाणा, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश—में गैर-कांग्रेसी सरकारों को बहाल करने में अहम भूमिका निभायी। इस दौर में राजनीतिक निष्ठा की इस अदल-बदल से 'आया राम-गया राम' का जुमला मशहूर हुआ।

‘आया राम-गया राम’

विधायकों द्वारा तुरंत-फुरंत पार्टी छोड़कर दूसरी-तीसरी पार्टी में शामिल होने की घटना से भारत के राजनीतिक शब्दकोश में 'आया राम-गया राम' का जुमला दाखिल हुआ। इस जुमले की प्रसिद्धि के साथ एक खास घटना जुड़ी हुई है। 1967 के चुनावों के बाद हरियाणा के एक विधायक—गया लाल ने राजनीतिक निष्ठा बदलने का जैसे एक कीर्तिमान ही स्थापित कर दिया था। उन्होंने एक पखवाड़े के अंदर तीन दफा अपनी पार्टी बदली। पहले वे कांग्रेस से यूनाइटेड फ्रंट में गए, फिर कांग्रेस में लौटे और कांग्रेस में लौटने के 9 घंटों के अंदर दोबारा यूनाइटेड फ्रंट में चले गए। कहा जाता है कि जब गया लाल ने यूनाइटेड फ्रंट छोड़कर कांग्रेस में आने की मंशा जाहिर की तो कांग्रेस के नेता राव वीरेन्द्र सिंह ने उन्हें लेकर चंडीगढ़ में प्रेस के सामने घोषणा की — “गया राम था अब आया राम है।” गया लाल की इस हड़बड़ी को 'आया राम-गया राम' के जुमले में हमेशा के लिए दर्ज कर लिया गया। उनकी इस हड़बड़ी को लेकर बहुत-से चुटकुले और कार्टून बने। बाद के समय में दल-बदल रोकने के लिए संविधान में संशोधन किया गया।



कांग्रेस में विभाजन

हमने देखा कि 1967 के चुनावों के बाद केंद्र में कांग्रेस की सत्ता कायम रही, लेकिन उसे पहले जितना बहुमत हासिल नहीं था। साथ ही अनेक राज्यों में इस पार्टी के हाथ से सत्ता जाती रही। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि चुनाव के नतीजों ने साबित कर दिया था कि कांग्रेस को चुनावों में हराया जा सकता है। बहरहाल, अब भी कांग्रेस का कोई विकल्प नहीं था। राज्यों में बनी अधिकतर गैर-कांग्रेसी गठबंधन की सरकारें ज्यादा दिनों तक नहीं टिक पाईं। इन सरकारों ने बहुमत खोया और उन्हें या तो नए सिरे से गठबंधन बनाना पड़ा अथवा राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा।

इंदिरा बनाम सिंडिकेट

इंदिरा गाँधी को असली चुनौती विपक्ष से नहीं बल्कि खुद अपनी पार्टी के भीतर से मिली। उन्हें 'सिंडिकेट' से निपटना पड़ा। 'सिंडिकेट' कांग्रेस

के. कामराज

(1903-1975) :

स्वतंत्रता-सेनानी और कांग्रेस के नेता; मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री रहे; मद्रास प्रांत में शिक्षा का प्रसार करने और स्कूली बच्चों को 'दोपहर का भोजन' देने की योजना

लागू करने के लिए प्रसिद्ध; 1963 में उन्होंने प्रस्ताव रखा कि सभी वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं को इस्तीफा दे देना चाहिए, ताकि अपेक्षाकृत युवा पार्टी कार्यकर्ता कमान सँभाल सकें। यह प्रस्ताव 'कामराज योजना' के नाम से मशहूर हुआ। आप कांग्रेस अध्यक्ष भी रहे।



कांग्रेस 'सिंडिकेट'

कांग्रेसी नेताओं के एक समूह को अनौपचारिक तौर पर 'सिंडिकेट' के नाम से इंगित किया जाता था। इस समूह के नेताओं का पार्टी के संगठन पर नियंत्रण था। 'सिंडिकेट' के अगुवा मद्रास प्रांत के भूतपूर्व मुख्यमंत्री और फिर कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष रह चुके के. कामराज थे। इसमें प्रांतों के ताकतवर नेता जैसे बंबई सिटी (अब मुंबई) के एस.के. पाटिल, मैसूर (अब कर्नाटक) के एस. निजलिंगप्पा, आंध्र प्रदेश के एन. संजीव रेड्डी और पश्चिम बंगाल के अतुल्य घोष शामिल थे। लालबहादुर शास्त्री और उसके बाद इंदिरा गाँधी, दोनों ही सिंडिकेट की सहायता से प्रधानमंत्री के पद पर आरूढ़ हुए थे। इंदिरा गाँधी के पहले मंत्रिपरिषद् में इस समूह की निर्णायक भूमिका रही। इसने तब नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन में भी अहम भूमिका निभायी थी। कांग्रेस के विभाजित होने के बाद सिंडिकेट के नेताओं और उनके प्रति निष्ठावान कांग्रेसी कांग्रेस (ओ) में ही रहे। चूँकि इंदिरा गाँधी की कांग्रेस (आर) ही लोकप्रियता की कसौटी पर सफल रही, इसलिए भारतीय राजनीति के ये बड़े और ताकतवर नेता 1971 के बाद प्रभावहीन हो गए।



एस. निजलिंगप्पा (1902-2000) : वरिष्ठ कांग्रेस नेता; संविधान सभा के सदस्य; लोकसभा के सदस्य; तत्कालीन मैसूर प्रांत (अब कर्नाटक) के मुख्यमंत्री; आधुनिक कर्नाटक के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध; 1968-71 के दौरान कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष।



इसका मतलब यह है कि राज्य स्तर के नेता पहले के समय में भी 'किंगमेकर' थे और इसमें कोई नयी बात नहीं है। मैं तो सोचती थी कि ऐसा केवल 1990 के दशक में हुआ।

के भीतर ताकतवर और प्रभावशाली नेताओं का एक समूह था। 'सिंडिकेट' ने इंदिरा गाँधी को प्रधानमंत्री बनवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। उसी ने इंदिरा गाँधी का कांग्रेस संसदीय दल के नेता के रूप में चुना जाना सुनिश्चित किया था। सिंडिकेट के नेताओं को उम्मीद थी कि इंदिरा गाँधी उनकी सलाहों पर अमल करेंगी। बहरहाल, इंदिरा गाँधी ने सरकार और पार्टी के भीतर खुद का मुकाम बनाना शुरू किया। उन्होंने अपने सलाहकारों और विश्वस्तों के समूह में पार्टी से बाहर के लोगों को रखा। धीरे-धीरे और बड़ी सावधानी से उन्होंने सिंडिकेट को हाशिए पर ला खड़ा किया।



कर्पूरी ठाकुर (1924-1988) : दिसंबर 1970 और जून 1971 तथा जून 1977 और अप्रैल 1979 के दौरान बिहार के मुख्यमंत्री; स्वतंत्रता सेनानी एवं समाजवादी नेता; मजदूर एवं किसान आंदोलनों में सक्रिय; लोहिया के प्रबल समर्थक; जेपी द्वारा चलाए गए आंदोलन में भागीदारी; मुख्यमंत्री के रूप में अपने दूसरे कार्यकाल के दौरान बिहार में पिछड़ों के लिए आरक्षण लागू करने वाले के रूप में पहचान; अंग्रेजी भाषा के इस्तेमाल के प्रबल विरोधी।

इस तरह इंदिरा गाँधी ने दो चुनौतियों का सामना किया। उन्हें 'सिंडिकेट' के प्रभाव से स्वतंत्र अपना मुकाम बनाने की ज़रूरत थी। कांग्रेस ने 1967 के चुनाव में जो ज़मीन खोयी थी उसे भी उन्हें हासिल करना था। इंदिरा गाँधी ने बड़ी साहसिक रणनीति अपनायी। उन्होंने एक साधारण से सत्ता-संघर्ष को विचारधारात्मक संघर्ष में बदल दिया। उन्होंने सरकार की नीतियों को वामपंथी रंग देने के लिए कई कदम उठाए। 1967 की मई में कांग्रेस कार्यसमिति ने उनके प्रभाव से दस-सूत्री कार्यक्रम अपनाया। इस कार्यक्रम में बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण, आम बीमा के राष्ट्रीयकरण, शहरी संपदा और आय के परिसीमन, खाद्यान्न का सरकारी वितरण, भूमि सुधार तथा ग्रामीण गरीबों को

आवासीय भूखंड देने के प्रावधान शामिल थे। हालाँकि सिंडिकेट के नेताओं ने औपचारिक तौर पर वामपंथी खेमे के इस कार्यक्रम को स्वीकृति दे दी, लेकिन इसे लेकर उनके मन में गहरे संदेह थे।

राष्ट्रपति पद का चुनाव, 1969

सिंडिकेट और इंदिरा गाँधी के बीच की गुटबाजी 1969 में राष्ट्रपति पद के चुनाव के समय खुलकर सामने आ गई। तत्कालीन राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन की मृत्यु के कारण उस साल राष्ट्रपति का पद खाली था। इंदिरा गाँधी की असहमति के बावजूद उस साल सिंडिकेट ने तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष एन. संजीव रेड्डी को कांग्रेस पार्टी की तरफ़ से राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के रूप में खड़ा करवाने में सफलता पाई। एन. संजीव रेड्डी से इंदिरा गाँधी की बहुत दिनों से राजनीतिक अनबन चली आ रही थी। ऐसे में इंदिरा गाँधी ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने तत्कालीन उपराष्ट्रपति वी.वी. गिरि को बढ़ावा दिया कि वे एक स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में राष्ट्रपति पद के लिए अपना नामांकन भरें। इंदिरा गाँधी ने

वी.वी. गिरि

(1894-1980) :

1969 से 1974 तक

भारत के राष्ट्रपति;

कांग्रेस नेता एवं

आंध्र प्रदेश के

मजदूर नेता; सिलोन

(श्रीलंका) में भारतीय उच्चायुक्त; केंद्रीय

मंत्रिमंडल में श्रम मंत्री, उत्तर प्रदेश, केरल,

मैसूर (कर्नाटक) के राज्यपाल; उपराष्ट्रपति

(1967 से 1969) एवं राष्ट्रपति ज़ाकिर

हुसैन के निधन के बाद कार्यकारी राष्ट्रपति;

इस्तीफ़ा एवं राष्ट्रपति चुनाव में स्वतंत्र

प्रत्याशी; राष्ट्रपति के चुनाव में इंदिरा गाँधी

के समर्थन से विजयी।



साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 21 अगस्त 1969

यह कार्टून वी.वी. गिरि की जीत के बाद छपा था। इसमें उन्हें एक विजयी मुक्केबाज़ के रूप में दिखाया गया है। उनके गले में माला लटक रही है। उनका मुकाबला सिंडिकेट के उम्मीदवार से था। कार्टून में सिंडिकेट के प्रतीक के रूप में निजलिगप्पा को घुटने टेकते दिखाया गया है। क्या आप बता सकते हैं कि इस कार्टून में इंदिरा गाँधी को मुक्केबाज़ी वाला दस्ताना पहने क्यों दिखाया गया है।

“

इतिहास...
लोकतंत्र की त्रासदी के
ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा
है, जब जनसमर्थन की
लहर के बूते अथवा किसी
लोकतांत्रिक संगठन के
बल पर सत्तासीन हुआ नेता
राजनीतिक आत्ममोह का
शिकार हो जाता है और
चरित्रहीन चाटुकार दरबारियों
की बातों में जीने लगता है...

”

एस. निजलिंगप्पा

इंदिरा गाँधी को पार्टी से
निष्कासित करते हुए एस.
निजलिंगप्पा ने उन्हें 11
नवंबर 1969 को एक चिट्ठी
लिखी। उपर्युक्त पंक्तियाँ इसी
पत्र का अंश हैं।

चौदह अग्रणी बैंकों के राष्ट्रीयकरण और भूतपूर्व राजा-महाराजाओं को प्राप्त विशेषाधिकार यानी 'प्रिवी पर्स' को समाप्त करने जैसी कुछ बड़ी और जनप्रिय नीतियों की घोषणा भी की। उस वक्त मोरारजी देसाई देश के उपप्रधानमंत्री और वित्तमंत्री थे। उपर्युक्त दोनों मुद्दों पर प्रधानमंत्री और उनके बीच गहरे मतभेद उभरे और इसके परिणामस्वरूप मोरारजी ने सरकार से किनारा कर लिया।

गुजरे वक्त में भी कांग्रेस के भीतर इस तरह के मतभेद उठ चुके थे, लेकिन इस बार मामला कुछ अलग ही था। दोनों गुट चाहते थे कि राष्ट्रपति पद के चुनाव में ताकत को आजमा ही लिया जाए। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष एस. निजलिंगप्पा ने 'व्हिप' जारी किया कि सभी 'कांग्रेसी सांसद और विधायक पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार संजीव रेड्डी को वोट डालें।' इंदिरा गाँधी के समर्थक गुट ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की विशेष बैठक आयोजित करने की याचना की, लेकिन उनकी यह याचना स्वीकार नहीं की गई। वी.वी. गिरि का छुपे तौर पर समर्थन करते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने खुलेआम अंतरात्मा की आवाज़ पर वोट डालने को कहा। इसका मतलब यह था कि कांग्रेस के सांसद और विधायक अपनी मनमर्जी से किसी भी उम्मीदवार को वोट डाल सकते हैं। आखिरकार राष्ट्रपति पद के चुनाव में वी.वी. गिरि ही विजयी हुए। वे स्वतंत्र उम्मीदवार थे, जबकि एन. संजीव रेड्डी कांग्रेस पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार थे।

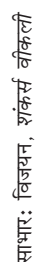
कांग्रेस पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार की हार से पार्टी का टूटना तय हो गया। कांग्रेस अध्यक्ष ने प्रधानमंत्री को अपनी पार्टी से निष्कासित कर दिया। पार्टी से निष्कासित प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने कहा कि उनकी पार्टी ही असली कांग्रेस है। 1969 के नवंबर तक सिंडिकेट की अगुवाई वाले कांग्रेसी खेमे को कांग्रेस (ऑर्गनाइजेशन) और इंदिरा गाँधी की अगुवाई वाले कांग्रेसी खेमे को कांग्रेस (रिक्विजिनिस्ट) कहा जाने लगा था। इन दोनों दलों को क्रमशः 'पुरानी कांग्रेस' और 'नयी कांग्रेस' भी कहा जाता था। इंदिरा गाँधी ने पार्टी की इस टूट को

‘प्रिवी पर्स’ की समाप्ति

पहले अध्याय में आपने देसी रियासतों के विलय के बारे में पढ़ा था। देसी रियासतों का विलय भारतीय संघ में करने से पहले सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि रियासतों के तत्कालीन शासक परिवार को निश्चित मात्रा में निजी संपदा रखने का अधिकार होगा। साथ ही सरकार की तरफ से उन्हें कुछ विशेष भत्ते भी दिए जाएँगे। ये दोनों चीजें (यानी शासक की निजी संपदा और भत्ते) इस बात को आधार मानकर तय की जाएँगी कि जिस राज्य का विलय किया जाना है उसका विस्तार, राजस्व और क्षमता कितनी है। इस व्यवस्था को 'प्रिवी पर्स' कहा गया। रियासतों के विलय के समय राजा-महाराजाओं को दी गई इस विशेष सुविधा की कुछ खास आलोचना नहीं हुई थी। उस वक्त देश की एकता, अखंडता का लक्ष्य ही प्रमुख था।

बहरहाल ये वंशानुगत विशेषाधिकार भारतीय संविधान में वर्णित समानता और सामाजिक-आर्थिक न्याय के सिद्धांतों से मेल नहीं खाते थे। नेहरू ने कई दफे इस व्यवस्था को लेकर अपना असंतोष जताया था। 1967 के चुनावों के बाद इंदिरा गाँधी ने 'प्रिवी पर्स' को खत्म करने की माँग का समर्थन किया। उनकी राय थी कि सरकार को 'प्रिवी पर्स' की व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिए। मोरारजी देसाई प्रिवी पर्स की समाप्ति को नैतिक रूप से गलत मानते थे। उनका कहना था कि यह 'रियासतों के साथ विश्वासघात' के बराबर होगा।

प्रिवी पर्स की व्यवस्था को खत्म करने के लिए सरकार ने 1970 में संविधान में संशोधन के प्रयास किए, लेकिन राज्यसभा में यह मंजूरी नहीं पा सका। इसके बाद सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया, लेकिन इसे सर्वोच्च न्यायालय ने निरस्त कर दिया। इंदिरा गाँधी ने इसे 1971 के चुनावों में एक बड़ा मुद्दा बनाया और इस मुद्दे पर उन्हें जन समर्थन भी खूब मिला। 1971 में मिली भारी जीत के बाद संविधान में संशोधन हुआ और इस तरह प्रिवी पर्स की समाप्ति की राह में मौजूद कानूनी अड़चनें खत्म हो गईं।



20 जुलाई 1969

विचारधाराओं की लड़ाई के रूप में पेश किया। उन्होंने इसे 'समाजवादी' और 'पुरातनपंथी' तथा गरीबों के हिमायती और अमीरों के तरफ़दार के बीच की लड़ाई करार दिया।

1971 का चुनाव और कांग्रेस का पुनर्स्थापन

कांग्रेस की टूट से इंदिरा गाँधी की सरकार अल्पमत में आ गई। बहरहाल, डीएमके और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी समेत कुछ अन्य दलों से प्राप्त मुद्दा आधारित समर्थन के बल पर इंदिरा गाँधी की सरकार सत्ता में बनी रही। इस अरसे के दौरान सरकार ने सचेत रूप से अपनी छवि को समाजवादी रंग में पेश किया। इसी दौर में इंदिरा गाँधी ने भूमि सुधार के मौजूदा कानूनों के क्रियान्वयन के लिए ज़बरदस्त अभियान चलाया। उन्होंने भू-परिसीमन के कुछ और कानून भी बनवाए। दूसरे राजनीतिक दलों पर अपनी निर्भरता समाप्त करने, संसद में अपनी पार्टी की स्थिति मज़बूत करने और अपने कार्यक्रमों के पक्ष में जनादेश हासिल करने की गरज से इंदिरा गाँधी की सरकार ने 1970 के दिसंबर में लोकसभा भंग करने की सिफ़ारिश की। यह भी एक आश्चर्यजनक और साहसिक कदम था। लोकसभा के लिए पाँचवें आम चुनाव 1971 के फ़रवरी माह में हुए।

मुकाबला

चुनावी मुकाबला कांग्रेस (आर) के विपरीत जान पड़ रहा था। आखिर नयी कांग्रेस एक जर्जर होती हुई पार्टी का हिस्सा भर थी। हर किसी को विश्वास था कि कांग्रेस पार्टी की असली सांगठनिक ताकत कांग्रेस (ओ) के नियंत्रण में है। इसके अतिरिक्त, सभी बड़ी गैर-साम्यवादी और गैर-कांग्रेसी विपक्षी पार्टियों ने एक चुनावी गठबंधन बना लिया था। इसे 'ग्रैंड अलायंस' कहा गया। इससे इंदिरा गाँधी के लिए स्थिति और कठिन हो गई। एसएसपी, पीएसपी, भारतीय जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी और भारतीय क्रांतिदल, चुनाव में एक छतरी के नीचे आ गए। शासक दल ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ गठजोड़ किया।

'गरीबी हटाओ' का नारा तो अब से लगभग चालीस साल पहले दिया गया था। क्या यह नारा महज चुनावी छलावा था?



इसके बावजूद नयी कांग्रेस के साथ एक ऐसी बात थी, जिसका उसके बड़े विपक्षियों के पास अभाव था। नयी कांग्रेस के पास एक मुद्दा था; एक अजेंडा और कार्यक्रम था। 'ग्रैंड अलायंस' के पास कोई सुसंगत राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। इंदिरा गाँधी ने देश भर में घूम-घूम कर कहा कि विपक्षी गठबंधन के पास बस एक ही कार्यक्रम है : इंदिरा हटाओ। इसके विपरीत उन्होंने लोगों के सामने एक सकारात्मक कार्यक्रम रखा और इसे अपने मशहूर नारे 'गरीबी हटाओ' के ज़रिए एक शकल प्रदान किया। इंदिरा गाँधी ने सार्वजनिक क्षेत्र की संवृद्धि, ग्रामीण भू-स्वामित्व और शहरी संपदा के परिसीमन, आय और अवसरों की असमानता की समाप्ति तथा 'प्रिवी पर्स' की समाप्ति पर अपने चुनाव अभियान में जोर दिया। 'गरीबी हटाओ' के नारे से इंदिरा गाँधी ने वंचित तबकों खासकर भूमिहीन किसान, दलित और आदिवासी, अल्पसंख्यक, महिला और बेरोज़गार नौजवानों के बीच अपने समर्थन का आधार तैयार करने की कोशिश की। 'गरीबी हटाओ' का नारा और इससे जुड़ा हुआ कार्यक्रम इंदिरा गाँधी की राजनीतिक रणनीति थी। इसके सहारे वे अपने लिए देशव्यापी राजनीतिक समर्थन की बुनियाद तैयार करना चाहती थीं।

परिणाम और उसके बाद...

1971 के लोकसभा चुनावों के नतीजे उतने ही नाटकीय थे, जितना इन चुनावों को करवाने का फ़ैसला। कांग्रेस (आर) और सीपीआई के गठबंधन को इस बार जितने वोट या सीटें मिलीं, उतनी कांग्रेस पिछले चार आम चुनावों में कभी हासिल न कर सकी थी। इस गठबंधन को लोकसभा की 375 सीटें मिलीं और इसने कुल 48.4 प्रतिशत वोट हासिल किए। अकेले इंदिरा गाँधी की कांग्रेस (आर) ने 352 सीटें और 44 प्रतिशत वोट हासिल किए थे। अब ज़रा इस तसवीर की तुलना कांग्रेस (ओ) के उजाड़ से करें: इस पार्टी में बड़े-बड़े महारथी थे, लेकिन इंदिरा गाँधी की पार्टी को जितने वोट मिले थे, उसके एक-चौथाई वोट ही इसकी झोली में आए। इस पार्टी को महज़ 16 सीटें मिलीं। अपनी भारी-भरकम जीत के साथ इंदिरा गाँधी की अगुवाई वाली कांग्रेस ने अपने दावे को साबित कर दिया कि वही 'असली कांग्रेस' है और उसे भारतीय राजनीति में फिर से प्रभुत्व के स्थान पर पुनर्स्थापित किया। विपक्षी 'ग्रैंड अलायंस' धराशायी हो गया था। इस 'महाजोड़' को 40 से भी कम सीटें मिली थीं।

साभार: आर के लक्ष्मण द टाइम्स ऑफ़ इंडिया



‘द ग्रैंड फिनिश’ नामक कार्टून में 1971 के आम चुनाव के परिणामों पर टिप्पणी की गई है। पराजित खिलाड़ियों के रूप में उस समय के प्रमुख विपक्षी नेताओं को दिखाया गया है।

साधार आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ़ इंडिया

1971 के आमचुनाव की जीत में अनेक चुनौतियाँ और समस्याएँ भी छुपी थीं।



1971 के लोकसभा चुनावों के तुरंत बाद पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) में एक बड़ा राजनीतिक और सैन्य संकट उठ खड़ा हुआ। चौथे अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि 1971 के चुनावों के बाद पूर्वी पाकिस्तान में संकट पैदा हुआ और भारत-पाक के बीच युद्ध छिड़ गया। इसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश बना। इन घटनाओं से इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता में चार चाँद लग गए। विपक्ष के नेताओं तक ने उसके राज्यकौशल की प्रशंसा की। 1972 के राज्य विधानसभा के चुनावों में उनकी पार्टी को व्यापक सफलता मिली। उन्हें गरीबों और वंचितों के रक्षक और एक मजबूत राष्ट्रवादी नेता के रूप में देखा गया। पार्टी के अंदर अथवा बाहर उसके विरोध की कोई गुंजाइश न बची।

कांग्रेस लोकसभा के चुनावों में जीती थी और राज्य स्तर के चुनावों में भी। इन दो लगातार जीतों के साथ कांग्रेस का दबदबा एक बार फिर कायम हुआ। कांग्रेस अब लगभग सभी राज्यों में सत्ता में थी। समाज के विभिन्न वर्गों में यह लोकप्रिय

भी थी। महज चार साल की अवधि में इंदिरा गाँधी ने अपने नेतृत्व और कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व के सामने खड़ी चुनौतियों को धूल चटा दी थी।



साधार: कुट्टी

मुख्यमंत्री चुनने की इंदिरा गाँधी की शैली पर एक कार्टूनिस्ट की टिप्पणी

कांग्रेस प्रणाली का पुनर्स्थापन?

बहरहाल कांग्रेस प्रणाली के पुनर्स्थापन का क्या मतलब निकलता है? इंदिरा गाँधी ने जो कुछ किया, वह पुरानी कांग्रेस को पुनर्जीवित करने का काम नहीं था। कई मामलों में यह पार्टी इंदिरा गाँधी के हाथों नयी तर्ज पर बनी थी। इस पार्टी को लोकप्रियता के लिहाज से वही स्थान प्राप्त था, जो उसे शुरुआती दौर में हासिल था, लेकिन यह अलग किस्म की पार्टी थी। यह पार्टी पूर्णतया अपने सर्वोच्च नेता की लोकप्रियता पर आश्रित थी। इस पार्टी का सांगठनिक ढाँचा भी अपेक्षाकृत कमजोर था। इस कांग्रेस पार्टी के भीतर कई गुट नहीं थे, यानी अब वह विभिन्न मतों और हितों को एक साथ लेकर चलने वाली पार्टी नहीं थी। इस पार्टी ने चुनाव जीते, लेकिन इस जीत के लिए पार्टी कुछ सामाजिक वर्गों जैसे गरीब, महिला, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यकों पर ज्यादा निर्भर थी। जो कांग्रेस उभरकर सामने आई, वह एकदम नयी कांग्रेस थी। इंदिरा गाँधी ने कांग्रेस प्रणाली को पुनर्स्थापित जरूर किया, लेकिन कांग्रेस-प्रणाली की प्रकृति को बदलकर।

कांग्रेस प्रणाली के भीतर हर तनाव और संघर्ष को पचा लेने की क्षमता थी। कांग्रेस प्रणाली को इसी खासियत के कारण जाना जाता था, लेकिन नयी कांग्रेस ज्यादा लोकप्रिय होने के बावजूद इस क्षमता से हीन थी। कांग्रेस ने अपनी पकड़ मजबूत की और इंदिरा गाँधी की राजनीतिक हैसियत अप्रत्याशित रूप से बढ़ी, लेकिन जनता की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की लोकतांत्रिक ज़मीन छोटी पड़ती गई। विकास और आर्थिक बदहाली के मुद्दों पर जनाक्रोश तथा लामबंदी लगातार बढ़ती रही। अगले अध्याय में आप पढ़ेंगे कि कैसे इन बातों से एक राजनीतिक संकट उठ खड़ा हुआ और जिससे देश के संवैधानिक लोकतंत्र के अस्तित्व पर ही खतरा मँडराने लगा था।

यह तो कुछ ऐसा ही है कि कोई मकान की बुनियाद और छत बदल दे फिर भी कहे कि मकान वही है। पुरानी और नयी कांग्रेस में कौन-सी चीज़ समान थी?



संसार

ज़ंजीर



विजय एक नौजवान पुलिस अधिकारी है। वह गुंडागर्दी खत्म करना चाहता है, लेकिन उसे झूठे आरोप लगाकर जेल भेज दिया जाता है। जेल से बाहर आने पर विजय दोषी लोगों से प्रतिशोध लेने की ठानता है। उसे कई संकटों का सामना करना पड़ता है, लेकिन अंततः वह खलनायक और उसके साथियों को सबक सिखाकर ही रहता है। व्यवस्था के भीतर ही कई लोग ऐसे हैं, जो विजय को समाजविरोधी

तत्त्वों से लड़ने में मदद पहुँचाते हैं। इस फ़िल्म में नैतिक मूल्यों के पतन और उससे उपजी कुंठा को बहुत प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया है। फ़िल्म के नायक विजय का गुस्सा और क्षोभ व्यवस्था की लाचारी को गहराई से चित्रित करता है।

'ज़ंजीर' के साथ सातवें दशक में एक नए तरह के गुस्सैल नौजवान नायक का जन्म हुआ।

वर्ष : 1973

निर्देशक : प्रकाश मेहरा

पटकथा : जावेद अख्तर

अभिनय : अमिताभ बच्चन,

अजित, जया भादुड़ी, प्राण

प्रश्नावली

- 1967 के चुनावों के बारे में निम्नलिखित में कौन-कौन से बयान सही हैं:
 - कांग्रेस लोकसभा के चुनाव में विजयी रही, लेकिन कई राज्यों में विधानसभा के चुनाव वह हार गई।
 - कांग्रेस लोकसभा के चुनाव भी हारी और विधानसभा के भी।
 - कांग्रेस को लोकसभा में बहुमत नहीं मिला, लेकिन उसने दूसरी पार्टियों के समर्थन से एक गठबंधन सरकार बनाई।
 - कांग्रेस केंद्र में सत्तासीन रही और उसका बहुमत भी बढ़ा।
- निम्नलिखित का मेल करें :

(क) सिंडिकेट	(i) कोई निर्वाचित जन-प्रतिनिधि जिस पार्टी के टिकट से जीता हो, उस पार्टी को छोड़कर अगर दूसरे दल में चला जाए।
(ख) दल-बदल	(ii) लोगों का ध्यान आकर्षित करने वाला एक मनभावन मुहावरा।
(ग) नारा	(iii) कांग्रेस और इसकी नीतियों के खिलाफ अलग-अलग विचारधाराओं की पार्टियों का एकजुट होना।
(घ) गैर-कांग्रेसवाद	(iv) कांग्रेस के भीतर ताकतवर और प्रभावशाली नेताओं का एक समूह।
- निम्नलिखित नारे से किन नेताओं का संबंध है:
 - जय जवान, जय किसान
 - इंदिरा हटाओ!
 - गरीबी हटाओ!
- 1971 के 'ग्रैंड अलायंस' के बारे में कौन-सा कथन ठीक है?
 - इसका गठन गैर-कम्युनिस्ट और गैर-कांग्रेसी दलों ने किया था।
 - इसके पास एक स्पष्ट राजनीतिक तथा विचारधारात्मक कार्यक्रम था।
 - इसका गठन सभी गैर-कांग्रेसी दलों ने एकजुट होकर किया था।
- किसी राजनीतिक दल को अपने अंदरूनी मतभेदों का समाधान किस तरह करना चाहिए? यहाँ कुछ समाधान दिए गए हैं। प्रत्येक पर विचार कीजिए और उसके सामने उसके फ़ायदों और घाटों को लिखिए।
 - पार्टी के अध्यक्ष द्वारा बताए गए मार्ग पर चलना।
 - पार्टी के भीतर बहुमत की राय पर अमल करना।
 - हरेक मामले पर गुप्त मतदान कराना।
 - पार्टी के वरिष्ठ और अनुभवी नेताओं से सलाह करना।

6. निम्नलिखित में से किसे/किन 1967 के चुनावों में कांग्रेस की हार के कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दीजिए:

(क) कांग्रेस पार्टी में करिश्माई नेता का अभाव।

(ख) कांग्रेस पार्टी के भीतर टूट।

(ग) क्षेत्रीय, जातीय और सांप्रदायिक समूहों की लामबंदी को बढ़ाना।

(घ) गैर-कांग्रेसी दलों के बीच एकजुटता।

(ङ) कांग्रेस पार्टी के अंदर मतभेद।

7. 1970 के दशक में इंदिरा गाँधी की सरकार किन कारणों से लोकप्रिय हुई थी?
8. 1960 के दशक की कांग्रेस पार्टी के संदर्भ में 'सिंडिकेट' का क्या अर्थ है? सिंडिकेट ने कांग्रेस पार्टी में क्या भूमिका निभाई?
9. कांग्रेस पार्टी किन मसलों को लेकर 1969 में टूट की शिकार हुई?
10. निम्नलिखित अनुच्छेद को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

इंदिरा गाँधी ने कांग्रेस को अत्यंत केंद्रीकृत और अलोकतांत्रिक पार्टी संगठन में तब्दील कर दिया, जबकि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस शुरुआती दशकों में एक संघीय, लोकतांत्रिक और विचारधाराओं के समाहार का मंच थी। नयी और लोकलुभावन राजनीति ने राजनीतिक विचारधारा को महज चुनावी विमर्श में बदल दिया। कई नारे उछाले गए, लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि उसी के अनुकूल सरकार की नीतियाँ भी बनानी थीं—1970 के दशक के शुरुआती सालों में अपनी बड़ी चुनावी जीत के जश्न के बीच कांग्रेस एक राजनीतिक संगठन के तौर पर मर गई।

— सुदीप्त कविराज

(क) लेखक के अनुसार नेहरू और इंदिरा गाँधी द्वारा अपनाई गई रणनीतियों में क्या अंतर था?

(ख) लेखक ने क्यों कहा है कि सत्तर के दशक में कांग्रेस 'मर गई'?

(ग) कांग्रेस पार्टी में आए बदलावों का असर दूसरी पार्टियों पर किस तरह पड़ा?

खुद करें-खुद सीखें

- राजनीतिक दलों द्वारा गढ़े गए नारों की एक सूची बनाएँ।
- क्या आपको लगता है कि चीजों के विज्ञापन और राजनीतिक दलों के नारे, घोषणापत्र तथा विज्ञापनों में कोई समानता है?
- मँहगाई राजनीतिक दलों की नीतियों पर क्या प्रभाव डालती है? इस पर चर्चा कीजिए।

[illegible]

1. The first step is to identify the problem or question that needs to be addressed. This involves understanding the context and the specific requirements of the task.

इस अध्याय में हम अपना ध्यान भारतीय लोकतंत्र के इतिहास के इसी निर्णायक दौर पर केंद्रित करेंगे। साथ ही हम कुछ ऐसे सवाल पूछेंगे जो सालों गुजरने के बाद भी विवादास्पद बने रहे, जैसे-

- 2019-20

लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकट



12122CH06

आपातकाल की पृष्ठभूमि

1967 के बाद से भारतीय राजनीति में जो बदलाव आ रहे थे उनके बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। इंदिरा गाँधी एक कद्दावर नेता के रूप में उभरी थीं और उनकी लोकप्रियता अपने चरम पर थी। इस दौर में दलगत प्रतिस्पर्धा कहीं ज्यादा तीखी और ध्रुवीकृत हो चली थी। इस अवधि में न्यायपालिका और सरकार के आपसी रिश्तों में भी तनाव आया। सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार की कई पहलकदमियों को संविधान के विरुद्ध माना। कांग्रेस पार्टी का मानना था कि अदालत का यह रवैया लोकतंत्र के सिद्धांतों और संसद की सर्वोच्चता के विरुद्ध है। कांग्रेस ने यह आरोप भी लगाया कि अदालत एक यथास्थितिवादी संस्था है और यह संस्था गरीबों को लाभ पहुँचाने वाले कल्याण-कार्यक्रमों को लागू करने की राह में रोड़े अटका रही है। कांग्रेस के विपक्ष में जो दल थे, उन्हें लग रहा था कि सरकारी प्राधिकार को निजी प्राधिकार मानकर इस्तेमाल किया जा रहा है और राजनीति हद से ज्यादा व्यक्तिगत होती जा रही है। कांग्रेस की टूट से इंदिरा गाँधी और उनके विरोधियों के बीच मतभेद गहरे हो गए थे।

आर्थिक संदर्भ

1971 के चुनाव में कांग्रेस ने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया था। बहरहाल 1971-72 के बाद के सालों में भी देश की सामाजिक-आर्थिक दशा में खास सुधार नहीं हुआ। बांग्लादेश के संकट से भारत की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ पड़ा था। लगभग 80 लाख लोग पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पार करके भारत आ गए थे। इसके बाद पाकिस्तान से युद्ध भी करना पड़ा। युद्ध के बाद अमरीका ने भारत को हर तरह की सहायता देना बंद कर दिया। इसी अवधि में अंतर्राष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतों में कई गुना बढ़ोतरी हुई। इससे विभिन्न चीजों की कीमतें भी तेजी से बढ़ीं। 1973 में चीजों की कीमतों में 23 फीसदी और 1974 में 30 फीसदी का इजाफ़ा हुआ। इस तीव्र मूल्यवृद्धि से लोगों को भारी कठिनाई हुई।

औद्योगिक विकास की दर बहुत कम थी और बेरोज़गारी बहुत बढ़ गई थी। ग्रामीण इलाकों में बेरोज़गारी बेतहाशा बढ़ी थी। खर्च को कम करने के लिए सरकार ने अपने कर्मचारियों के वेतन को रोक लिया। इससे सरकारी कर्मचारियों में बहुत असंतोष पनपा। 1972-73 के वर्ष में मानसून असफल रहा। इससे कृषि की पैदावार में भारी गिरावट आई। खाद्यान्न का उत्पादन 8 प्रतिशत कम हो गया। आर्थिक स्थिति की बदहाली को लेकर पूरे देश में असंतोष का माहौल था। इस स्थिति में गैर-कांग्रेसी पार्टियों ने बड़े कारगर तरीके से जन-विरोध की अगुवाई की। 1960 के दशक से ही छात्रों के बीच विरोध के स्वर उठने लगे थे। ये स्वर इस अवधि में और ज्यादा

प्रधानमंत्री ने कहा:

आगे
के दिन
मुश्किल



साभार: अबु

अच्छा तो यही होता कि 1973 का यह साल जितनी जल्दी हो सके, बीत जाता।



गरीब जनता पर सचमुच भारी मुसीबत आई होगी। आखिर गरीबी हटाओ के वादे का हुआ क्या?

“

सम्पूर्ण क्रांति अब नारा है भावी इतिहास हमारा है!

”

1974 के बिहार आंदोलन का एक नारा

प्रबल हो उठे। संसदीय राजनीति में विश्वास न रखने वाले कुछ मार्क्सवादी समूहों की सक्रियता भी इस अवधि में बढ़ी। इन समूहों ने मौजूदा राजनीतिक प्रणाली और पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए हथियार उठाया तथा राज्यविरोधी तकनीकों का सहारा लिया। ये समूह मार्क्सवादी-लेनिनवादी (अब माओवादी) अथवा नक्सलवादी के नाम से जाने गए। ऐसे समूह पश्चिम बंगाल में सबसे ज्यादा सक्रिय थे। पश्चिम बंगाल की सरकार ने इन्हें दबाने के लिए कठोर कदम उठाए।

गुजरात और बिहार के आंदोलन

गुजरात और बिहार दोनों ही राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी। यहाँ के छात्र-आंदोलन ने इन दोनों प्रदेशों की राजनीति पर गहरा असर तो डाला ही, राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर भी इसके दूरगामी प्रभाव हुए। 1974 के जनवरी माह में गुजरात के छात्रों ने खाद्यान्न, खाद्य तेल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमत तथा उच्च पदों पर जारी भ्रष्टाचार के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया। छात्र-आंदोलन में बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ भी शरीक हो गईं और इस आंदोलन ने विकराल रूप धारण कर लिया। ऐसे में गुजरात में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। विपक्षी दलों ने राज्य की विधानसभा के लिए दोबारा चुनाव कराने की माँग की। कांग्रेस (ओ) के प्रमुख नेता मोरारजी देसाई ने कहा कि अगर राज्य में नए सिरे से चुनाव नहीं करवाए गए तो मैं अनिश्चितकालीन भूख-हड़ताल पर बैठ जाऊँगा। मोरारजी अपने कांग्रेस के दिनों में इंदिरा गाँधी के मुख्य विरोधी रहे थे। विपक्षी दलों द्वारा समर्थित छात्र-आंदोलन के गहरे दबाव में 1975 के जून में विधानसभा के चुनाव हुए। कांग्रेस इस चुनाव में हार गई।

1974 के मार्च माह में बढ़ती हुई कीमतों, खाद्यान्न के अभाव, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार के खिलाफ बिहार में छात्रों ने आंदोलन छेड़ दिया। आंदोलन के क्रम में उन्होंने जयप्रकाश नारायण (जेपी) को बुलावा भेजा। जेपी तब सक्रिय राजनीति छोड़ चुके थे और सामाजिक कार्यों में लगे हुए थे। छात्रों ने अपने आंदोलन की अगुवाई के लिए जयप्रकाश नारायण को बुलावा भेजा था। जेपी ने छात्रों का निमंत्रण इस शर्त पर स्वीकार किया कि आंदोलन अहिंसक रहेगा और अपने को सिर्फ बिहार तक सीमित नहीं रखेगा। इस प्रकार छात्र-आंदोलन ने एक राजनीतिक चरित्र ग्रहण किया और उसके भीतर राष्ट्रव्यापी अपील आई। जीवन के हर क्षेत्र के लोग अब आंदोलन से आ जुड़े। जयप्रकाश नारायण ने बिहार की कांग्रेस सरकार को बर्खास्त करने की माँग की। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दायरे में ‘सम्पूर्ण क्रांति’ का आह्वान किया ताकि उन्हीं के शब्दों में ‘सच्चे लोकतंत्र’ की स्थापना की जा सके। बिहार की सरकार के खिलाफ लगातार घेराव, बंद और हड़ताल का एक सिलसिला चल पड़ा। बहरहाल, सरकार ने इस्तीफ़ा देने से इनकार कर दिया।

आंदोलन का प्रभाव राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ना शुरू हुआ। जयप्रकाश नारायण चाहते थे कि यह आंदोलन देश के दूसरे हिस्सों में भी फैले। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन के साथ ही साथ रेलवे के कर्मचारियों ने भी एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। इससे देश के रोज़मर्रा के कामकाज के ठप्प हो

“

इंदिरा इज़ इंडिया, इंडिया इज़ इंदिरा

”

कांग्रेस अध्यक्ष डी.के. बरुआ (1974) ने यह नारा दिया था।

नक्सलवादी आंदोलन

पश्चिम बंगाल के पर्वतीय जिले दार्जिलिंग के नक्सलबाड़ी पुलिस थाने के इलाके में 1967 में एक किसान विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह की अगुवाई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के स्थानीय कॉडर के लोग कर रहे थे। नक्सलबाड़ी पुलिस थाने से शुरू होने वाला यह आंदोलन भारत के कई राज्यों में फैल गया। इस आंदोलन को नक्सलवादी आंदोलन के रूप में जाना जाता है। 1969 में नक्सलवादी सीपीआई (एम) से अलग हो गए और इन्होंने सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) नाम से एक नयी पार्टी चारु मजूमदार के नेतृत्व में बनायी। इस पार्टी की दलील थी कि भारत में लोकतंत्र एक छलावा है। इस पार्टी ने क्रांति करने के लिए गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनायी।

नक्सलवादी आंदोलन ने धनी भूस्वामियों से बलपूर्वक ज़मीन छीनकर गरीब और भूमिहीन लोगों को दी। इस आंदोलन के समर्थक अपने राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के लिए हिंसक साधनों के इस्तेमाल के पक्ष में दलील देते थे। इस वक्त कांग्रेस-शासित पश्चिम बंगाल सरकार ने निरोधक नज़रबंदी समेत कई कड़े कदम उठाए, लेकिन नक्सलवादी आंदोलन रुक न सका। बाद के सालों में यह देश के कई अन्य भागों में फैल गया। नक्सलवादी आंदोलन अब कई दलों और संगठनों में बँट चुका था। इन दलों में से कुछ जैसे सीपीआई (एमएल-लिबरेशन) खुली लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी करते हैं।



नक्सलवाद की पृष्ठभूमि पर अनेक फिल्मों भी बनी हैं। महाश्वेता देवी के उपन्यास पर आधारित 'हजार चौरासी की माँ' ऐसी ही एक फिल्म है।

फिलहाल 9 राज्यों के लगभग 75 जिले नक्सलवादी हिंसा से प्रभावित हैं। इनमें अधिकतर बहुत पिछड़े इलाके हैं और यहाँ आदिवासियों की जनसंख्या ज्यादा है। इन इलाकों में बैटाई



चारु मजूमदार (1918-1972):

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी और
नक्सलवादी बगावत के नेता;
आजादी से पहले तेभागा आंदोलन
में भागीदारी; सीपीआई छोड़ी
और कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया
(मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की

स्थापना; किसान विद्रोह के माओवादी पंथ में विश्वास;
क्रांतिकारी हिंसा के समर्थक; पुलिस हिरासत में मौत।

या पट्टे पर खेतीबाड़ी करने वाले तथा छोटे किसान उपज में हिस्से, पट्टे की सुनिश्चित अवधि और उचित मजदूरी जैसे अपने बुनियादी हकों से भी वंचित हैं। जबरिया मजदूरी, बाहरी लोगों द्वारा संसाधनों का दोहन तथा सूदखोरों द्वारा शोषण भी इन इलाकों में आम बात है। इन स्थितियों से नक्सलवादी आंदोलन में बढ़ोतरी हुई है।

सरकार ने नक्सलवादी आंदोलन से निपटने के लिए कड़े कदम उठाए हैं। मानवाधिकार समूहों ने सरकार के इन कदमों की आलोचना करते हुए कहा है कि वह नक्सलवादियों से निपटने के क्रम में संवैधानिक मानकों का उल्लंघन कर रही है। नक्सलवादी हिंसा और नक्सल विरोधी

सरकारी कार्रवाई में हजारों लोग अपनी जान गँवा चुके हैं।

संसार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया, 16 अप्रैल 1974



लोकनायक जयप्रकाश नारायण (जेपी) (1902-1979) :

युवावस्था में मार्क्सवादी; कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक महासचिव; 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन के नायक;

नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप में देखे गए; नेहरू मंत्रिमंडल में शामिल होने से इनकार; 1955 के बाद सक्रिय राजनीति छोड़ी; गाँधीवादी बनने के बाद भूदान आंदोलन में सक्रिय; नगा विद्रोहियों से सुलह की बातचीत की; कश्मीर में शांति प्रयास किए; चंबल के डकैतों से आत्मसमर्पण कराया; बिहार आंदोलन के नेता; आपातकाल के विरोध के प्रतीक बन गए थे; जनता पार्टी के गठन के प्रेरणास्रोत।

जाने का खतरा पैदा हो गया। 1975 में जेपी ने जनता के 'संसद-मार्च' का नेतृत्व किया। देश की राजधानी में अब तक इतनी बड़ी रैली नहीं हुई थी। जयप्रकाश नारायण को अब भारतीय जनसंघ, कांग्रेस (ओ), भारतीय लोकदल, सोशलिस्ट पार्टी जैसे गैर-कांग्रेसी दलों का समर्थन मिला। इन दलों ने जेपी को इंदिरा गाँधी के विकल्प के रूप में पेश किया। बहरहाल जेपी के विचारों और उनके द्वारा अपनायी गई जन-प्रतिरोध की रणनीति की आलोचनाएँ भी मुखर हुईं। गुजरात और बिहार, दोनों ही राज्यों के आंदोलन को कांग्रेस विरोधी आंदोलन माना गया। कहा गया कि ये आंदोलन राज्य सरकार के खिलाफ नहीं बल्कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व के खिलाफ चलाए गए हैं। इंदिरा गाँधी का मानना था कि ये आंदोलन उनके प्रति व्यक्तिगत विरोध से प्रेरित हैं।

न्यायपालिका से संघर्ष

न्यायपालिका के साथ इस दौर में सरकार और शासक दल के गहरे मतभेद पैदा हुए। क्या आपको संसद और न्यायपालिका के बीच चले लंबे संघर्ष की चर्चा याद है? इसके बारे में

1974 की रेल हड़ताल

यदि रेलगाड़ियों का चलना बंद हो जाए तो क्या होगा? एक या दो दिन नहीं, बल्कि हफ्ते भर से ज़्यादा समय तक रेलगाड़ियाँ न चलें तो? निश्चित ही बहुत-से लोगों का आना-जाना दूभर हो जाएगा, लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं रहेगी। देश की अर्थव्यवस्था ठप्प हो जाएगी, क्योंकि रेलगाड़ियों के माध्यम से ही देश में एक जगह से दूसरी जगह सामानों की ज़्यादातर ढुलाई होती है। क्या आप जानते हैं कि 1974 में ठीक ऐसा ही वाकया पेश आया था? रेलवे कर्मचारियों के संघर्ष से संबंधित राष्ट्रीय समन्वय समिति ने जॉर्ज फर्नान्डिस के नेतृत्व में रेलवे कर्मचारियों की एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। बोनस और सेवा से जुड़ी शर्तों के संबंध में अपनी माँगों को लेकर सरकार पर दबाव बनाने के लिए हड़ताल का यह आह्वान किया गया था। सरकार इन माँगों के खिलाफ़ थी। ऐसे में भारत के इस सबसे बड़े सार्वजनिक उद्यम के कर्मचारी 1974 के मई महीने में हड़ताल पर चले गए। रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल से मजदूरों के असंतोष को बढ़ावा मिला। इस हड़ताल से मजदूरों के अधिकार जैसे मसले तो उठे ही, यह सवाल भी उठा कि आवश्यक सेवाओं से जुड़े हुए कर्मचारी अपनी माँगों को लेकर हड़ताल कर सकते हैं या नहीं। सरकार ने इस हड़ताल को अवैधानिक करार दिया। सरकार ने हड़ताली कर्मचारियों की माँगों को मानने से इनकार कर दिया। उसने इसके कई नेताओं को गिरफ्तार किया और रेल लाइनों की सुरक्षा में सेना को तैनात कर दिया। ऐसे में 20 दिन के बाद यह हड़ताल बगैर किसी समझौते के वापस ले ली गई।

आपने पिछले साल पढ़ा था। इस क्रम में तीन संवैधानिक मसले उठे थे: क्या संसद मौलिक अधिकारों में कटौती कर सकती है? सर्वोच्च न्यायालय का जवाब था कि संसद ऐसा नहीं कर सकती। दूसरा यह कि क्या संसद संविधान में संशोधन करके संपत्ति के अधिकार में काट-छाँट कर सकती है? इस मसले पर भी सर्वोच्च न्यायालय का यही कहना था कि सरकार, संविधान में इस तरह संशोधन नहीं कर सकती कि अधिकारों की कटौती हो जाए। तीसरे, संसद ने यह कहते हुए संविधान में संशोधन किया कि वह नीति-निर्देशक सिद्धांतों को प्रभावकारी बनाने के लिए मौलिक अधिकारों में कमी कर सकती है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रावधान को भी निरस्त कर दिया। इससे सरकार और न्यायपालिका के बीच संबंधों में तनाव आया। आपको याद होगा कि इस संकट की परिणति केशवानंद भारती के मशहूर मुकदमे के रूप में सामने आई। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फ़ैसला सुनाया कि संविधान का एक बुनियादी ढाँचा है और संसद इन ढाँचागत विशेषताओं में संशोधन नहीं कर सकती है।

दो और बातों ने न्यायपालिका और कार्यपालिका के संबंधों में तनाव बढ़ाया। 1973 में केशवानंद भारती के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फ़ैसला सुनाने के तुरंत बाद भारत के मुख्य न्यायाधीश का पद खाली हुआ। सर्वोच्च न्यायालय के सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को भारत का मुख्य न्यायाधीश बनाने की परिपाटी चली आ रही थी, लेकिन 1973 में सरकार ने तीन



क्या
'प्रतिबद्ध न्यायपालिका'
और 'प्रतिबद्ध नौकरशाही'
का मतलब यह है कि
न्यायाधीश और सरकारी
अधिकारी शासक दल के
प्रति निष्ठावान हों?

वरिष्ठ न्यायाधीशों की अनदेखी करके न्यायमूर्ति ए.एन. रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया। यह निर्णय राजनीतिक रूप से विवादास्पद बन गया क्योंकि सरकार ने जिन तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की अनदेखी इस मामले में की थी उन्होंने सरकार के इस कदम के विरुद्ध फ़ैसला दिया। ऐसे में संविधान की व्याख्या और राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ी तेज़ी से घालमेल हुआ। जो लोग प्रधानमंत्री के नज़दीकी थे वे एक ऐसी 'प्रतिबद्ध' न्यायपालिका तथा नौकरशाही की ज़रूरत के बारे में बातें करने लगे जो विधायिका और कार्यपालिका की सोच के अनुकूल आचरण करे। इस संघर्ष का चरमबिंदु तब आया जब एक उच्च न्यायालय ने इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया।

आपातकाल की घोषणा

12 जून 1975 के दिन इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जगमोहन लाल सिन्हा ने एक फ़ैसला सुनाया। इस फ़ैसले में उन्होंने लोकसभा के लिए इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैधानिक करार दिया। न्यायमूर्ति ने यह फ़ैसला समाजवादी नेता राजनारायण द्वारा दायर एक चुनाव याचिका के मामले में सुनाया था। राजनारायण, इंदिरा गाँधी के खिलाफ़ 1971 में बतौर उम्मीदवार चुनाव में खड़े हुए थे। याचिका में इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को चुनौती देते हुए तर्क दिया गया था कि उन्होंने चुनाव-प्रचार में सरकारी कर्मचारियों की सेवाओं का इस्तेमाल किया था। उच्च न्यायालय के इस फ़ैसले का मतलब यह था कि कानूनन अब इंदिरा गाँधी सांसद नहीं रहीं और अगर अगले छह महीने की अवधि में दोबारा सांसद निर्वाचित नहीं होतीं, तो प्रधानमंत्री के पद पर कायम नहीं रह सकतीं। 24 जून 1975 को सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय के इस फ़ैसले पर आंशिक स्थगनादेश सुनाते हुए कहा कि जब तक इस फ़ैसले को लेकर की गई अपील की सुनवाई नहीं होती तब तक इंदिरा गाँधी सांसद बनी रहेंगी; लेकिन वे लोकसभा की कार्यवाई में भाग नहीं ले सकती हैं।

यह तो सेना से सरकार के खिलाफ़ बगावत करने को कहने जैसा जान पड़ता है! क्या यह बात लोकतांत्रिक है?



संकट और सरकार का फ़ैसला

एक बड़े राजनीतिक संघर्ष के लिए अब मैदान तैयार हो चुका था। जयप्रकाश नारायण की अगुवाई में विपक्षी दलों ने इंदिरा गाँधी के इस्तीफ़े के लिए दबाव डाला। इन दलों ने 25 जून 1975 को दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विशाल प्रदर्शन किया। जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गाँधी से इस्तीफ़े की माँग करते हुए राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह की घोषणा की। जेपी ने सेना, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों का आह्वान किया कि वे सरकार के अनैतिक और अवैधानिक आदेशों का पालन न करें। इससे भी सरकारी कामकाज के ठप्प हो जाने का अंदेशा पैदा हुआ। देश का राजनीतिक मिजाज़ अब पहले से कहीं ज़्यादा कांग्रेस के खिलाफ़ हो गया।

सरकार ने इन घटनाओं के मद्देनजर जवाब में 'आपातकाल' की घोषणा कर दी। 25 जून 1975 के दिन सरकार ने घोषणा की कि देश में गड़बड़ी की आशंका है और इस तर्क के साथ उसने संविधान के अनुच्छेद 352 को लागू कर दिया। इस अनुच्छेद के अंतर्गत प्रावधान किया गया है कि बाहरी अथवा अंदरूनी गड़बड़ी की आशंका होने पर सरकार आपातकाल लागू कर सकती है। सरकार का निर्णय था कि गंभीर संकट की घड़ी आन पड़ी है और इस वजह से आपातकाल की घोषणा ज़रूरी हो गई है। तकनीकी रूप से देखें तो ऐसा करना



साभार : आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ इंडिया, 26 जून 1975

यह कार्टून आपातकाल की घोषणा के चंद रोज़ पहले छपा था। इसमें मौजूदा राजनीतिक संकट की आहटों को पढ़ा जा सकता है। कुर्सी को पीछे से सहारा देता हाथ कांग्रेस अध्यक्ष डी.के. बरूआ का है।

सरकार की शक्तियों के दायरे में था क्योंकि हमारे संविधान में सरकार को आपातकाल की स्थिति में विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

आपातकाल की घोषणा के साथ ही शक्तियों के बँटवारे का संघीय ढाँचा व्यावहारिक तौर पर निष्प्रभावी हो जाता है और सारी शक्तियाँ केंद्र सरकार के हाथ में चली आती हैं। दूसरे, सरकार चाहे तो ऐसी स्थिति में किसी एक अथवा सभी मौलिक अधिकारों पर रोक लगा सकती है अथवा उनमें कटौती कर सकती है। संविधान के प्रावधान में आए शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपातकाल को वहाँ एक असाधारण स्थिति के रूप में देखा गया है जब सामान्य लोकतांत्रिक राजनीति के कामकाज नहीं किए जा सकते। इसी कारण सरकार को आपातकाल की स्थिति में विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

25 जून 1975 की रात में प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद से आपातकाल लागू करने की सिफारिश की। राष्ट्रपति ने तुरंत यह उद्घोषणा कर दी। आधी रात के बाद सभी बड़े अखबारों के दफ्तर की बिजली काट दी गई। तड़के सबेरे बड़े पैमाने पर विपक्षी दलों के



क्या राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल की सिफारिश के बगैर आपातकाल की घोषणा करनी चाहिए थी? कितनी अजीब बात है!

अखबारों पर
बंदिश लगी, हटी

[illegible]

देश में तानाशाही रोकने को लंबे संघर्ष हेतु तैयार रहें

राजस्थानी: बीबाव की बितावत सभ में जखबाव की धीपण

[illegible]

श्रीमती गांधी को बने रहना

Message to Chief Sub, Sub-J/Alma label, from Chief Sub,
Beiki.

Message to Citer - Dehd.
The sender rang up to say that the Prime Minister's
interview to the correspondent of the "Daily Telegraph"
should be sent to him before publication. September 28, 1971

September 28, 1970

To Editor /

RECEIVED

family planning programs

... should be published
... from the Director.

RAMSON
PAINTS
WARRANTY

STATE OF EM

Several leaders arre

[illegible]

The House passed the bill 418-179. It is a substitute for the amendment to the bill introduced by the House on March 10, 1967, which was passed by the House on March 10, 1967, and is now in the Senate. The bill is a substitute for the amendment to the bill introduced by the House on March 10, 1967, which was passed by the House on March 10, 1967, and is now in the Senate.

[illegible]

Rights suspended

11 दिसंबर 1975

THE TIMES OF INDIA

FRIDAY, JUNE 25, 1999

IN TAD

DEC



**SKA PALACE
HOTEL**

STATE OF EMERGENCY DECLARED
CM warns Security in peril, says P.M.
leaders arrested

Several leaders

CHIEF SUBS/3005/3006

Chief Sub, Delhi, to Chief Sub, Bombay/Ahmedabad

Phone from censor (Mr. Laxmi Chand) : "Only after you are cleared to be used. No comments."

vocation of Indo-Pak talks today

Minerals to be eaten

Be vigilant, states told

2019-20

Rights suspended

Pre-censorship

1998, 1999, 2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 2659, 2660, 2661, 2662, 2663, 2664, 2665, 2666, 2667, 2668, 2669, 2670, 2671, 2672, 2673, 2674, 2675, 2676, 2677, 2678, 2679, 26

बर्से २१ अंक प्रतिदिन

शुक्रवार २६ मार्च १९७६

श्रीलंका १० पैसे

नया आपात्काल : जयप्रकाश और कई नेता गिरफ्तार

नई दिल्ली २६ मार्च (दुर्लभार्थ)। भारत के इतिहास में पहली बार संसदीय तंत्र को नया आपात्काल लागू करने के बाद जयप्रकाश और अन्य नेता गिरफ्तार किए गए हैं।

जयप्रकाश और अन्य नेताओं ने एक बैठक में संसदीय तंत्र को नया आपात्काल लागू करने के बाद जयप्रकाश और अन्य नेता गिरफ्तार किए गए हैं।

Emergency ensures
YOUR Security—
and the NATION'S

WORK MORE
TALK LESS

प्रधान मंत्री का
क्रान्तिकारी कार्यक्रम
आइए इसे सफल बनाएं

To our readers

The city edition of Friday and Saturday editions of the Hindustan Times could not be brought out as no power was available from 12-45 p.m. on Friday. The inconvenience is deeply regretted.

THE HINDUSTAN TIMES

MRS GANDHI DEFEATED

Janta Party forges ahead in North
Bansi Lal, Sanjay out



Cong rout in
Delhi total

Nightmare
over, says
Vajpayee

The night the
didn't sleep

We've always practised
Compulsory
Sterilisation



Party position
at 2:30 a.m.

Capital's
Leading

नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी हुई। 26 जून की सुबह 6 बजे एक विशेष बैठक में मंत्रिमंडल को इन बातों की सूचना दी गई, लेकिन तब तक बहुत कुछ हो चुका था।

परिणाम

सरकार के इस फैसले से विरोध-आंदोलन एकबारगी रुक गया; हड़तालों पर रोक लगा दी गई। अनेक विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। राजनीतिक माहौल में तनाव भरा एक गहरा सन्नाटा छा गया। आपातकालीन प्रावधानों के अंतर्गत प्राप्त अपनी शक्तियों पर अमल करते हुए सरकार ने प्रेस की आजादी पर रोक लगा दी। समाचारपत्रों को कहा गया कि कुछ भी छापने से पहले अनुमति लेना जरूरी है। इसे प्रेस सेंसरशिप के नाम से जाना जाता है। सामाजिक और सांप्रदायिक गड़बड़ी की आशंका के मद्देनजर सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और जमात-ए-इस्लामी पर प्रतिबंध लगा दिया। धरना, प्रदर्शन और हड़ताल की भी अनुमति नहीं थी। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आपातकालीन प्रावधानों के अंतर्गत नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकार निष्प्रभावी हो गए। उनके पास अब यह अधिकार भी नहीं रहा कि मौलिक अधिकारों की बहाली के लिए अदालत का दरवाजा खटखटाएँ।

अरे! सर्वोच्च न्यायालय ने भी साथ छोड़ दिया! उन दिनों सबको क्या हो गया था?



सरकार ने निवारक नज़रबंदी का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया। इस प्रावधान के अंतर्गत लोगों को गिरफ्तार इसलिए नहीं किया जाता कि उन्होंने कोई अपराध किया है बल्कि इसके विपरीत, इस प्रावधान के अंतर्गत लोगों को इस आशंका से गिरफ्तार किया जाता है कि वे कोई अपराध कर सकते हैं। सरकार ने आपातकाल के दौरान निवारक नज़रबंदी अधिनियमों का प्रयोग करके बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ कीं। जिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया गया। वे बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका का सहारा लेकर अपनी गिरफ्तारी को चुनौती भी नहीं दे सकते थे। गिरफ्तार लोगों अथवा उनके पक्ष से किन्हीं और ने उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में कई मामले दायर किए, लेकिन सरकार का कहना था कि गिरफ्तार लोगों को गिरफ्तारी का कारण बताना कतई जरूरी नहीं है। अनेक उच्च न्यायालयों ने फैसला दिया कि आपातकाल की घोषणा के बावजूद अदालत किसी व्यक्ति द्वारा दायर की गई ऐसी बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका को विचार के लिए स्वीकार कर सकती है जिसमें उसने अपनी गिरफ्तारी को चुनौती दी हो। 1976 के अप्रैल माह में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठ ने उच्च न्यायालयों के फैसले को उलट दिया और सरकार की दलील मान ली। इसका आशय यह था कि सरकार आपातकाल के दौरान नागरिक से जीवन और आजादी का अधिकार वापस ले सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले से नागरिकों के लिए अदालत के दरवाजे बंद हो गए। इस फैसले को सर्वोच्च न्यायालय के सर्वाधिक विवादास्पद फैसलों में एक माना गया।

आपातकाल की मुखालफत और प्रतिरोध की कई घटनाएँ घटीं। पहली लहर में जो राजनीतिक कार्यकर्ता गिरफ्तारी से बच गए थे वे 'भूमिगत' हो गए और उन्होंने सरकार के खिलाफ मुहिम चलायी। 'इंडियन एक्सप्रेस' और 'स्टेट्समैन' जैसे अखबारों ने प्रेस पर लगी सेंसरशिप का विरोध किया। जिन समाचारों को छापने से रोका जाता था उनकी जगह ये अखबार खाली छोड़ देते थे। 'सेमिनार' और 'मेनस्ट्रीम' जैसी पत्रिकाओं ने सेंसरशिप के आगे घुटने टेकने की जगह बंद होना मुनासिब समझा। सेंसरशिप को धत्ता बताते हुए गुपचुप तरीके से अनेक न्यूज़लेटर और लीफ़लेट्स निकले। पद्मभूषण से सम्मानित कन्नड़ लेखक शिवराम कारंत और पद्मश्री से सम्मानित हिंदी लेखक फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने लोकतंत्र के दमन के

विरोध में अपनी-अपनी पदवी लौटा दी। बहरहाल, मुखालफत और प्रतिरोध के इतने प्रकट कदम कुछ ही लोगों ने उठाए।

संसद ने संविधान के सामने कई नयी चुनौतियाँ खड़ी कीं। इंदिरा गाँधी के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फ़ैसले की पृष्ठभूमि में संविधान में संशोधन हुआ। इस संशोधन के द्वारा प्रावधान किया गया कि प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के निर्वाचन को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती। आपातकाल के दौरान ही संविधान का 42वाँ संशोधन पारित हुआ। आप पढ़ चुके हैं कि इस संशोधन के जरिए संविधान के अनेक हिस्सों में बदलाव किए गए। 42वें संशोधन के जरिए हुए अनेक बदलावों में एक था-देश की विधायिका के कार्यकाल को 5 से बढ़ाकर 6 साल करना। यह व्यवस्था मात्र आपातकाल की अवधि भर के लिए नहीं की गई थी। इसे आगे के दिनों में भी स्थायी रूप से लागू किया जाना था। इसके अतिरिक्त अब आपातकाल के दौरान चुनाव को एक साल के लिए स्थगित किया जा सकता था। इस तरह देखें तो 1971 के बाद अब चुनाव 1976 के बदले 1978 में करवाए जा सकते थे।



जिन चंद लोगों ने प्रतिरोध किया, उनकी बात छोड़ दें- बाकियों के बारे में सोचें कि उन्होंने क्या किया! क्या कर रहे थे बड़े-बड़े अधिकारी, बुद्धिजीवी, सामाजिक-धार्मिक नेता और नागरिक ...?

आपातकाल के संदर्भ में विवाद

आपातकाल भारतीय राजनीति का सर्वाधिक विवादास्पद प्रकरण है। इसका एक कारण है आपातकाल की घोषणा की ज़रूरत को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों का होना। दूसरा कारण यह है कि सरकार ने संविधान प्रदत्त अधिकारों का इस्तेमाल करके व्यावहारिक तौर पर लोकतांत्रिक कामकाज को ठप्प कर दिया था। आपातकाल के बाद शाह आयोग ने अपनी जाँच में पाया कि इस अवधि में बहुत सारी 'अति' हुई। इसके अतिरिक्त भारत में लोकतंत्र पर अमल के लिहाज़ से आपातकाल से क्या-क्या सबक सीखे जा सकते हैं, इस पर भी अलग-अलग राय मिलती है। आइए, इन पर एक-एक करके नज़र दौड़ाएँ।

क्या 'आपातकाल' ज़रूरी था?

आपातकाल की घोषणा के कारण का उल्लेख करते हुए संविधान में बड़े सादे ढंग से 'अंदरूनी गड़बड़ी' जैसे शब्द का व्यवहार किया गया है। 1975 से पहले कभी भी 'अंदरूनी गड़बड़ी' को आधार बनाकर आपातकाल की घोषणा नहीं की गई थी। हम पढ़ चुके हैं कि देश के कई हिस्सों में विरोध-आंदोलन चल रहे थे। क्या इसे आपातकाल लागू करने का पर्याप्त कारण माना जा सकता है? सरकार का तर्क था कि भारत में लोकतंत्र है और इसके अनुकूल विपक्षी दलों को चाहिए कि वे निर्वाचित शासक दल को अपनी नीतियों के अनुसार शासन चलाने दें। सरकार का मानना था कि बार-बार का

शाह जाँच आयोग

1977 की मई में जनता पार्टी की सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री जे.सी. शाह की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। इस आयोग का गठन "25 जून 1975 के दिन घोषित आपातकाल के दौरान की गई कार्रवाई तथा सत्ता के दुरुपयोग, अतिचार और कदाचार के विभिन्न आरोपों के विविध पहलुओं" की जाँच के लिए किया गया था। आयोग ने विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों की जाँच की और हजारों गवाहों के बयान दर्ज़ किए। गवाहों में इंदिरा गाँधी भी शामिल थीं। वे आयोग के सामने उपस्थित हुईं, लेकिन उन्होंने आयोग के सवालियों के जवाब देने से इनकार कर दिया।

भारत सरकार ने आयोग द्वारा प्रस्तुत दो अंतरिम रिपोर्टों और तीसरी तथा अंतिम रिपोर्ट की सिफ़ारिशों, पर्यवेक्षणों और निष्कर्षों को स्वीकार किया। यह रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों में भी विचार के लिए रखी गई।

“लोकतंत्र के नाम पर खुद लोकतंत्र की राह रोकने की कोशिश की जा रही है। वैधानिक रूप से निर्वाचित सरकार को काम नहीं करने दिया जा रहा। ...आंदोलनों से माहौल सरगर्म है और इसके नतीजतन हिंसक घटनाएँ हो रही हैं ...एक आदमी तो इस हद तक आगे बढ़ गया है कि वह हमारी सेना को विद्रोह और पुलिस को बगावत के लिए उकसा रहा है। विघटनकारी ताकतों का खुला खेल जारी है और सांप्रदायिक उन्माद को हवा दी जा रही है, जिससे हमारी एकता पर खतरा मँडरा रहा है। अगर सचमुच कोई सरकार है, तो वह कैसे हाथ बाँधकर खड़ी रहे और देश की स्थिरता को खतरे में पड़ता देखती रहे? चंद लोगों की कारस्तानी से विशाल आबादी के अधिकारों को खतरा पहुँच रहा है।”

इंदिरा गाँधी

26 जून 1975 को आकाशवाणी से राष्ट्र को संबोधित करते हुए



साभार : आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ इंडिया

शाह जाँच आयोग के प्रति इंदिरा गाँधी के टकराव भरे रवैये पर कार्टूनिस्ट ने इस तरह की टिप्पणी की। यह कार्टून शाह जाँच आयोग की रिपोर्ट जारी होने के बाद बनाया गया।

धरना-प्रदर्शन और सामूहिक कार्रवाई लोकतंत्र के लिए ठीक नहीं है। इंदिरा गाँधी के समर्थक यह भी मानते थे कि लोकतंत्र में सरकार पर निशाना साधने के लिए लगातार गैर-संसदीय राजनीति का सहारा नहीं लिया जा सकता। इससे अस्थिरता पैदा होती है और प्रशासन का ध्यान विकास के कामों से भंग हो जाता है। सारी ताकत कानून-व्यवस्था की बहाली पर लगानी पड़ती है। इंदिरा गाँधी ने शाह आयोग को चिट्ठी में लिखा कि विनाशकारी ताकतें सरकार के प्रगतिशील कार्यक्रमों में अड़गने डाल रही थीं और मुझे गैर-संवैधानिक साधनों के बूते सत्ता से बेदखल करना चाहती थीं।

तुर्कमान गेट इलाके में विध्वंस, दिल्ली

आपातकाल के दौरान दिल्ली के गरीब इलाके के निवासियों को बड़े पैमाने पर विस्थापित होना पड़ा। उस वक्त यमुना नदी के पास निर्जन इलाके में झुग्गी-झोपड़ी के बाशिनदों को जबरदस्ती बसाया गया। इसी नियति का एक शिकार तुर्कमान गेट इलाके की एक बस्ती हुई थी। इस इलाके की झुगियों को उजाड़ दिया गया। इलाके के सैकड़ों लोगों की ज़बरन नसबंदी की गई। बहरहाल अनेक लोग नसबंदी करवाने से इसलिए बच सके क्योंकि इन लोगों ने दूसरों को नसबंदी करवाने के लिए रजामंद कर लिया। ऐसे लोगों को बतौर इनाम ज़मीन के टुकड़ों पर मिल्कियत दी गई। इस तरह कुछ लोग अगर सरकार द्वारा प्रायोजित प्रयासों के शिकार हुए तो कुछ लोगों ने कानूनन ज़मीन हासिल करने के लालच में दूसरों को बलि का बकरा बनाया और ऐसा करके खुद को विस्थापित होने से बचा लिया।

स्रोत : शाह जाँच आयोग : अंतरिम रिपोर्ट II

अपने माता-पिता अथवा परिवार और आस-पड़ोस के अन्य बड़े बुजुर्गों से पूछिए कि 1975-77 के आपातकाल के दौरान उन पर क्या गुजरी थी। निम्नलिखित बिंदुओं पर नोट्स तैयार कीजिए:

- ऐसे लोगों के निजी अनुभव जिनका संबंध आपातकाल से हो।
- आपके इलाके में आपातकाल के समर्थन या विरोध में घटी कोई घटना।
- 1977 के चुनाव में ऐसे लोगों की भागीदारी। इन लोगों ने किसे वोट दिया और क्यों?

अपने नोट्स को एक साथ मिलाकर लिखिए और 'आपातकाल के दौरान मेरा गाँव/शहर' शीर्षक से एक सामूहिक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

खोज-बीन

कुछ अन्य दलों, मसलन सीपीआई (इसने आपातकाल के दौरान कांग्रेस को समर्थन देना जारी रखा था) का विश्वास था कि भारत की एकता के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय साजिश की जा रही है। सीपीआई का मानना था कि ऐसी सूरत में विरोध पर एक हद तक प्रतिबंध लगाना उचित है। सीपीआई का मानना था कि जेपी ने जिस जन आंदोलन की अगुवाई की, वह मुख्यतया मध्यवर्ग का आंदोलन था और यह मध्यवर्ग कांग्रेस की परिवर्तनकारी नीतियों के विरोध में था। आपातकाल के बाद सीपीआई ने महसूस किया कि उसका मूल्यांकन गलत था और आपातकाल का समर्थन करना एक गलती थी।

दूसरी तरफ, आपातकाल के आलोचकों का तर्क था कि आजादी के आंदोलन से लेकर लगातार भारत में जन आंदोलन का एक सिलसिला रहा है। जेपी सहित विपक्ष के अन्य नेताओं का खयाल था कि लोकतंत्र में लोगों को सार्वजनिक तौर पर सरकार के विरोध का अधिकार होना चाहिए। बिहार और गुजरात में चले विरोध-आंदोलन ज्यादातर समय अहिंसक और शांतिपूर्ण रहे। जिन लोगों को गिरफ्तार किया गया था, उन पर कभी भी राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में लिप्त रहने का मुकदमा नहीं चला। अधिकतर बंदियों के खिलाफ कोई मुकदमा दर्ज नहीं हुआ था। देश के अंदरूनी मामलों की देख-रेख का जिम्मा गृह मंत्रालय का होता है। गृह मंत्रालय ने भी कानून व्यवस्था की बाबत कोई चिंता नहीं जतायी थी। अगर कुछ आंदोलन अपनी हद से बाहर जा रहे थे, तो सरकार के पास अपनी रोजमर्रा की अमल में आने वाली इतनी शक्तियाँ थीं कि वह ऐसे आंदोलनों को हद में ला सकती थी। लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली को ठप्प करके 'आपातकाल' लागू करने जैसे अतिचारी कदम उठाने की ज़रूरत कतई न थी। दरअसल खतरा देश की एकता और अखंडता को नहीं, बल्कि शासक दल और स्वयं प्रधानमंत्री को था। आलोचक कहते हैं कि देश को बचाने के लिए बनाए गए संवैधानिक प्रावधान का दुरुपयोग इंदिरा गाँधी ने निजी ताकत को बचाने के लिए किया।

आपातकाल के दौरान क्या-क्या हुआ?

आपातकाल का वास्तविक क्रियान्वयन भी अपने-आप में विवाद का एक मुद्दा रहा है। क्या सरकार ने अपनी आपातकालीन शक्तियों का दुरुपयोग किया? क्या इस दौरान सत्ता का दुरुपयोग हुआ और उसके बूते ज्यादतियाँ की गईं? सरकार ने कहा कि वह आपातकाल के ज़रिए कानून व्यवस्था को बहाल करना चाहती थी, कार्यकुशलता बढ़ाना चाहती थी और गरीबों के हित के कार्यक्रम लागू करना चाहती थी। इस उद्देश्य से सरकार ने एक बीस-सूत्री कार्यक्रम

की घोषणा की और इसे लागू करने का अपना दृढ़ संकल्प दोहराया। बीस-सूत्री कार्यक्रम में भूमि-सुधार, भू-पुनर्वितरण, खेतिहर मजदूरों के पारिश्रमिक पर पुनर्विचार, प्रबंधन में कामगारों की भागीदारी, बंधुआ मजदूरी की समाप्ति, आदि मसले शामिल थे। आपातकाल की घोषणा के बाद, शुरुआती महीनों में मध्यवर्ग इस बात से बड़ा खुश था कि विरोध-आंदोलन समाप्त हो गया और सरकारी कर्मचारियों पर अनुशासन लागू हुआ। गरीब और ग्रामीण जनता को भी उम्मीद थी कि सरकार जिन कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने के वायदे कर रही है, उन्हें अब कारगर तरीके से लागू किया जाएगा। समाज के विभिन्न वर्गों की अलग-अलग अपेक्षाएँ थीं और इस कारण आपातकाल को लेकर उनके दृष्टिकोण भी अलग-अलग थे।

नहीं, अभी नहीं! अभी तुम अपने पैरों पर खड़ा होने लायक नहीं हुए हो!



साधार: आर.के. लक्षणा, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

आपातकाल के आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि सरकार के ज्यादातर वायदे पूरे नहीं हुए। आलोचकों का कहना है कि सरकार अपने वायदों की ओट लेकर ज्यादातियों से लोगों का ध्यान हटाना चाहती थी। आलोचकों ने निवारक नज़रबंदी के बड़े पैमाने के इस्तेमाल पर भी सवाल उठाए। हम पढ़ चुके हैं कि आपातकाल के दौरान अनेक प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। दरअसल, कुल 676 नेताओं की गिरफ्तारी हुई थी। शाह आयोग का आकलन था कि निवारक नज़रबंदी के कानूनों के तहत लगभग एक लाख ग्यारह हजार लोगों को गिरफ्तार किया गया। प्रेस पर कई तरह की पाबंदी लगाई गई। इसमें कई पाबंदियाँ गैरकानूनी थीं। शाह आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि दिल्ली बिजली आपूर्ति निगम के महाप्रबंधक को दिल्ली के लेफ्टिनेंट-गवर्नर के दफ्तर से 26 जून 1975 की रात 2 बजे मौखिक आदेश मिला कि सभी अखबारों की बिजली आपूर्ति काट दी जाए। अखबारों को बिजली आपूर्ति दो-तीन दिन बाद फिर बहाल की गई, लेकिन तब तक सेंसरशिप का पूरा ढाँचा खड़ा किया जा चुका था।

राजन की पुलिस हिरासत में मौत

कालीकट इंजीनियरिंग कॉलेज (केरल) के अंतिम वर्ष के छात्र पी. राजन को 1 मार्च 1976 के दिन एक अन्य छात्र जोसेफ चाली के साथ छात्रावास से उठा लिया गया। राजन के पिता टी.वी. इचार वारियर ने अपने बेटे की तलाश में बहुत भागदौड़ की। वे विधायकों से मिले, संबद्ध अधिकारियों को अर्जी दी और तत्कालीन गृहमंत्री के. करुणाकरण से भी मदद की गुहार लगाई। चूंकि आपातकाल की घोषणा हो चुकी थी; इसलिए नागरिक अधिकारों से जुड़े हुए मसलों को अदालत में नहीं उठाया जा सकता था। आपातकाल की समाप्ति के बाद वारियर ने अर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर की। गवाहों के बयान से यह बात स्पष्ट हुई कि छात्रावास से उठाकर राजन को अगले दिन कालीकट के टूरिस्ट बंगले में ले जाया गया। इस जगह पर पुलिस ने उसे यातना दी। अगली सुनवाई में केरल सरकार ने उच्च न्यायालय को बताया कि 'गैरकानूनी पुलिस हिरासत' के दौरान पुलिस द्वारा लगातार यातना देने के कारण राजन की मौत हो गई। केरल उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने फ़ैसला सुनाया कि करुणाकरण ने अदालत से झूठ बोला था। के. करुणाकरण उस समय तक केरल के मुख्यमंत्री बन चुके थे। उन्हें अदालत के फ़ैसले के कारण अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा।

इसके अलावा कुछ और भी गंभीर आरोप ऐसे लोगों को लेकर लगे थे जो किसी आधिकारिक पद पर नहीं थे, लेकिन सरकारी ताकत का इन लोगों ने इस्तेमाल किया था। प्रधानमंत्री के छोटे बेटे संजय गाँधी उस वक्त किसी आधिकारिक पद पर नहीं थे। फिर भी, प्रशासन पर उनका असर था और आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने सरकारी कामकाज में दखल दिया। दिल्ली में झुग्गी बस्तियों को हटाने तथा ज़बरन नसबंदी करने की मुहिम में उनकी भूमिका को लेकर बड़े विवाद उठे।

राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी और प्रेस पर लगी पाबंदी के अतिरिक्त, आपातकाल का बुरा असर आमलोगों को भी भुगतना पड़ा। आपातकाल के दौरान पुलिस हिरासत में मौत और यातना की घटनाएँ घटीं। गरीब लोगों को मनमाने ढंग से एक जगह से उजाड़कर दूसरी जगह बसाने की भी घटनाएँ हुईं। जनसंख्या नियंत्रण के अति उत्साह में लोगों को अनिवार्य रूप से नसबंदी के लिए मजबूर किया गया। इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के ठप्प पड़ने पर लोगों पर क्या गुज़रती है।

आपातकाल के सबक

आपातकाल से एकबारगी भारतीय लोकतंत्र की ताकत और कमजोरियाँ उजागर हो गईं। हालाँकि बहुत-से पर्यवेक्षक मानते हैं कि आपातकाल के दौरान भारत लोकतांत्रिक नहीं रह गया था, लेकिन यह भी ध्यान देने की बात है कि थोड़े ही दिनों के अंदर कामकाज फिर से लोकतांत्रिक ढर्रे पर लौट आया। इस तरह आपातकाल का एक सबक तो यही है कि भारत से लोकतंत्र को विदा कर पाना बहुत कठिन है।

“... death of
D. E. M. O'Cracy, mourned by
his wife T. Ruth, his son
L. I. Bertie, and his daughters
Faith, Hope and Justice.”

1975 में आपातकाल की घोषणा के चंद रोज बाद टाइम्स ऑफ़ इंडिया में यह विज्ञापन 'अज्ञात' नाम से छपा था। गौर करें कि इसमें लोकतंत्र पर मंडराते खतरे की तरफ़ ध्यान खींचने के लिए किस तरह भाषा का कल्पनाशील प्रयोग किया गया है और सेंसरशिप से बचने के लिए कैसे अपने संदेश को विज्ञापन के रूप में छपवाने का नायाब तरीका ढूँढ़ा गया है।

“

आज भारत की आज़ादी का दिन है... भारत के लोकतंत्र का दीपक बुझने न पाए।

”

फ्री जेपी कैम्पेन

यह विज्ञापन द टाइम्स (लंदन) में 15 अगस्त 1975 को छपवाया गया था।

दूसरे, आपातकाल से संविधान में वर्णित आपातकाल के प्रावधानों के कुछ अर्थगत उलझाव भी प्रकट हुए, जिन्हें बाद में सुधार लिया गया। अब ‘अंदरूनी’ आपातकाल सिर्फ ‘सशस्त्र विद्रोह’ की स्थिति में लगाया जा सकता है। इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि आपातकाल की घोषणा की सलाह मंत्रिमंडल राष्ट्रपति को लिखित में दे।

तीसरे, आपातकाल से हर कोई नागरिक अधिकारों के प्रति ज़्यादा सचेत हुआ। आपातकाल की समाप्ति के बाद अदालतों ने व्यक्ति के नागरिक अधिकारों की रक्षा में सक्रिय भूमिका निभाई। न्यायपालिका आपातकाल के वक्त नागरिक अधिकारों की कारगर तरीके से रक्षा नहीं कर पाई थी। इसे महसूस करके अब वह नागरिक अधिकारों की रक्षा में तत्पर हो गई। आपातकाल के बाद नागरिक अधिकारों के कई संगठन वजूद में आए।

बहरहाल, आपातकाल के संकटपूर्ण वर्षों ने कई ऐसे सवाल छोड़े हैं जिन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। इस अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि लोकतांत्रिक सरकार के रोज़मर्रा के कामकाज और विभिन्न दलों और समूहों के निरंतर जारी राजनीतिक विरोध के बीच तनाव की स्थिति बनती है। ऐसे में दोनों के बीच एक सधा हुआ संतुलन क्या हो सकता है? क्या नागरिकों को विरोध की कार्रवाई में शामिल होने की पूरी आज़ादी होनी चाहिए अथवा उन्हें इसका कोई अधिकार ही नहीं होना चाहिए। ऐसे विरोध की सीमा क्या मानी जाए?

दूसरे, आपातकाल का वास्तविक क्रियान्वयन पुलिस और प्रशासन के ज़रिए हुआ। ये संस्थाएँ स्वतंत्र होकर काम नहीं कर पाईं। इन्हें शासक दल ने अपना राजनीतिक औज़ार बनाकर इस्तेमाल किया। शाह कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार पुलिस और प्रशासन राजनीतिक दबाव की चपेट में आ गए थे। यह समस्या आपातकाल के बाद भी खत्म नहीं हुई।

आपातकाल के बाद की राजनीति

जैसे ही आपातकाल खत्म हुआ और लोकसभा के चुनावों की घोषणा हुई, वैसे ही आपातकाल का सबसे ज़रूरी और कीमती सबक राजव्यवस्था ने सीख लिया। 1977 के चुनाव एक तरह से आपातकाल के अनुभवों के बारे में जनमत-संग्रह थे। उत्तर भारत में तो खासतौर पर क्योंकि यहाँ आपातकाल का असर सबसे ज़्यादा महसूस किया गया था। विपक्ष ने ‘लोकतंत्र बचाओ’ के नारे पर चुनाव लड़ा। जनादेश निर्णायक तौर पर आपातकाल के विरुद्ध था। सबक एकदम साफ़ था और कई राज्यों के विधानसभा चुनावों में भी स्थिति यही रही। जिन सरकारों को जनता ने लोकतंत्र-विरोधी माना उसे मतदाता के रूप में उसने भारी दंड दिया। इस अर्थ में देखें तो 1975-77 के अनुभवों की एक परिणति भारतीय लोकतंत्र की बुनियाद को पुख्ता बनाने में हुई।

लोकसभा के चुनाव-1977

18 महीने के आपातकाल के बाद 1977 के जनवरी माह में सरकार ने चुनाव कराने का फैसला किया। इसी के मुताबिक सभी नेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जेल से रिहा कर दिया गया। 1977 के मार्च में चुनाव हुए। ऐसे में विपक्ष को चुनावी तैयारी का बड़ा कम समय

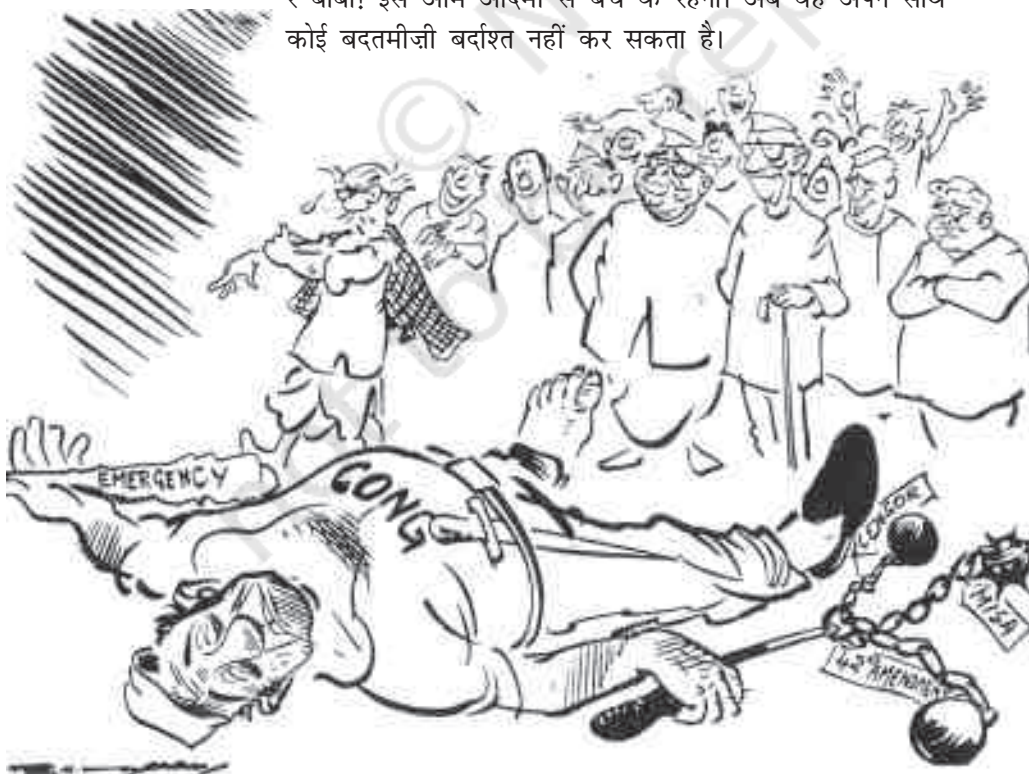
मिला, लेकिन राजनीतिक बदलाव की गति बड़ी तेज़ थी। आपातकाल लागू होने के पहले ही बड़ी विपक्षी पार्टियाँ एक-दूसरे के नज़दीक आ रही थीं। चुनाव के ऐन पहले इन पार्टियों ने एकजुट होकर जनता पार्टी नाम से एक नया दल बनाया। नयी पार्टी ने जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व स्वीकार किया। कांग्रेस के कुछ नेता भी, जो आपातकाल के खिलाफ़ थे, इस पार्टी में शामिल हुए। कांग्रेस के कुछ अन्य नेताओं ने जगजीवन राम के नेतृत्व में एक नयी पार्टी बनाई। इस पार्टी का नाम 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' था और बाद में यह पार्टी भी जनता पार्टी में शामिल हो गई।

1977 के चुनावों को जनता पार्टी ने आपातकाल के ऊपर जनमत संग्रह का रूप दिया। इस पार्टी ने चुनाव-प्रचार में शासन के अलोकतांत्रिक चरित्र और आपातकाल के दौरान की गई ज्यादतियों पर जोर दिया। हज़ारों लोगों की गिरफ्तारी और प्रेस की सेंसरशिप की पृष्ठभूमि में जनमत कांग्रेस के विरुद्ध था। जनता पार्टी के गठन के कारण यह भी सुनिश्चित हो गया कि गैर-कांग्रेसी वोट एक ही जगह पड़ेंगे। बात बिलकुल साफ़ थी कि कांग्रेस के लिए अब बड़ी मुश्किल आ पड़ी थी।



मोरारजी देसाई (1896-1995) :
स्वतंत्रता सेनानी, गाँधीवादी नेता;
खादी, प्राकृतिक चिकित्सा और
निग्रह के प्रतिपादक; बॉम्बे प्रांत
के मुख्यमंत्री; 1967-1969 के
बीच उप-प्रधानमंत्री; पार्टी में टूट
के बाद कांग्रेस (ओ) में शामिल;
1977-1979 तक एक गैर-कांग्रेसी
दल की तरफ़ से प्रधानमंत्री रहे।

रे बाबा! इस आम आदमी से बच के रहना। अब वह अपने साथ
कोई बदतमीज़ी बर्दाश्त नहीं कर सकता है।



साभार: आर.के. लक्ष्मण,
टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 29 मार्च 1977

देखिए कि एक
कार्टूनिस्ट ने 1977 के
चुनावों में हारने और
जीतने वालों को किस
तरह देखा है! आम
आदमी के साथ खड़े
हुए लोगों में जगजीवन
राम, मोरारजी देसाई,
चरण सिंह और
अटलबिहारी वाजपेयी
को दिखाया गया है।

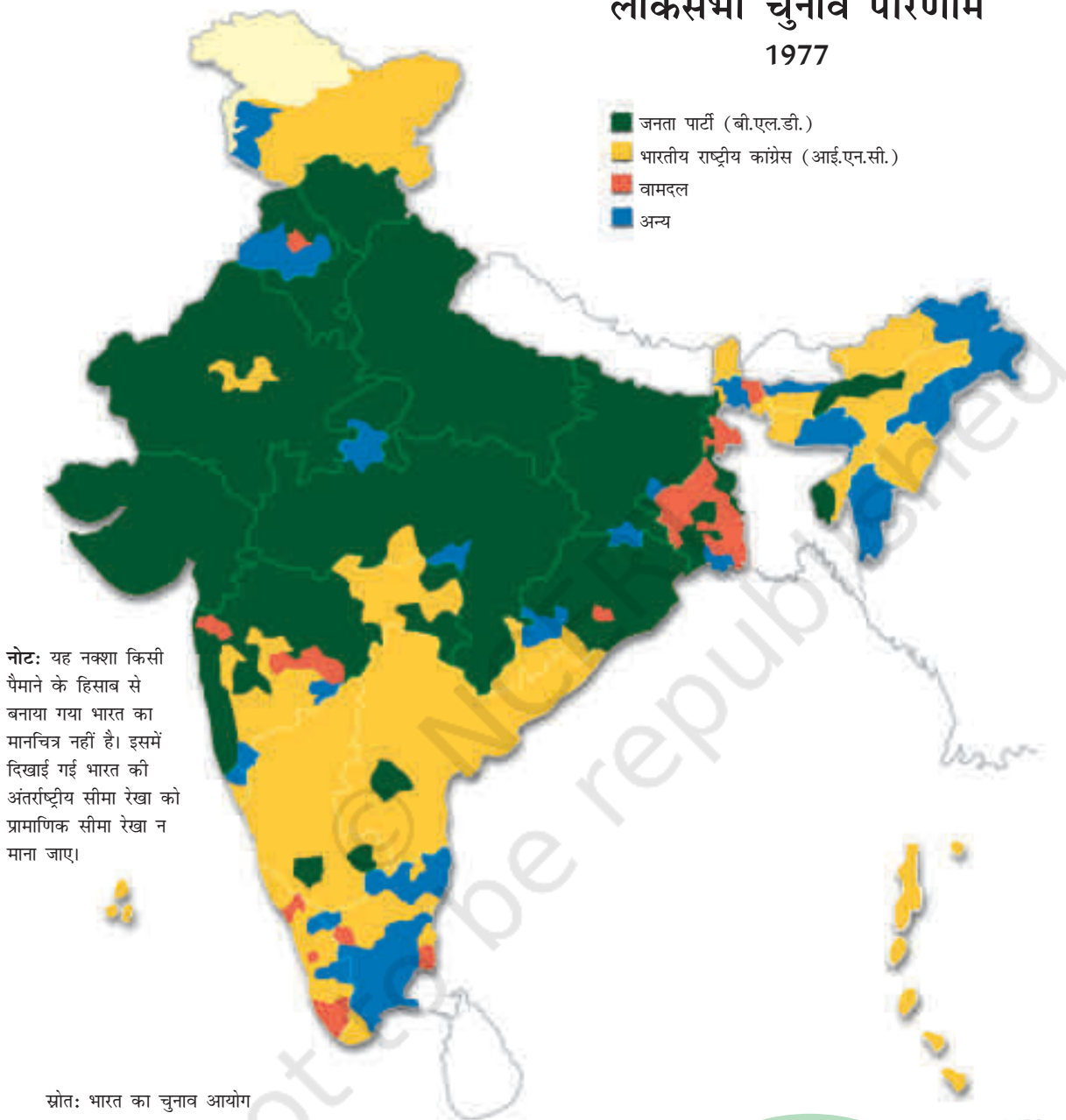
लेकिन चुनाव के अंतिम नतीजों ने सबको चौंका दिया। आज़ादी के बाद पहली बार ऐसा हुआ कि कांग्रेस लोकसभा का चुनाव हार गई। कांग्रेस को लोकसभा की मात्र 154 सीटें मिली थीं। उसे 35 प्रतिशत से भी कम वोट हासिल हुए। जनता पार्टी और उसके साथी दलों को लोकसभा की कुल 542 सीटों में से 330 सीटें मिलीं। खुद जनता पार्टी अकेले 295 सीटों पर जीत गई थी और उसे स्पष्ट बहुमत मिला था। उत्तर भारत में चुनावी माहौल कांग्रेस के एकदम खिलाफ़ था। कांग्रेस बिहार, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब में एक भी सीट न पा सकी। राजस्थान और मध्य प्रदेश में उसे महज एक-एक सीट मिली। इंदिरा गाँधी रायबरेली से और उनके पुत्र संजय गाँधी अमेठी से चुनाव हार गए।

बहरहाल अगर आप चुनावी नतीजों के नक्शे पर नज़र दौड़ाएँ, तो पाएँगे कि कांग्रेस देश में हर जगह चुनाव नहीं हारी थी। महाराष्ट्र, गुजरात और उड़ीसा में उसने कई सीटों पर अपना कब्ज़ा बरकरार रखा था और दक्षिण भारत के राज्यों में तो एक तरह से उसकी चुनावी विजय का चक्का बेरोक-टोक चला था। इसके कई कारण रहे। पहली बात तो यह थी कि आपातकाल का प्रभाव हर राज्य पर एकसमान नहीं पड़ा था। लोगों को ज़बरन उजाड़ने और विस्थापित करने अथवा ज़बरन नसबंदी करने का काम ज़्यादातर उत्तर भारत के राज्यों में हुआ था, लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह थी कि उत्तर भारत में राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता की प्रकृति में दूरगामी बदलाव आए थे। उत्तर भारत का मध्यवर्ग कांग्रेस से दूर जाने लगा था



1977 में बनी गैर-कांग्रेसी सरकार का शपथ ग्रहण समारोह। चित्र में जयप्रकाश नारायण, जे. बी. कृपलानी, मोरारजी देसाई और अटलबिहारी वाजपेयी बैठे हुए नज़र आ रहे हैं।

लोकसभा चुनाव परिणाम 1977



नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

स्रोत: भारत का चुनाव आयोग

इस मानचित्र में उन जगहों को चिह्नित करें, जहाँ

- कांग्रेस हारी
- कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई
- ऐसे राज्य जहाँ कांग्रेस और उसके साथी दलों को भारी विजय मिली।

अगर उत्तर और दक्षिण के राज्यों में मतदाताओं ने इतने अलग ढर्रे पर मतदान किया, तो हम कैसे कहें कि 1977 के चुनावों का जनादेश क्या था?





चौधरी चरण सिंह
(1902-1987) :
जुलाई 1979 से
जनवरी 1980 के
बीच भारत के
प्रधानमंत्री; स्वतंत्रता
सेनानी; उत्तर प्रदेश की
राजनीति में सक्रिय;
ग्रामीण एवं कृषि
विकास के समर्थक;
कांग्रेस छोड़ी और
1967 में भारतीय
क्रांति दल का गठन;
उत्तर प्रदेश में दो बार
मुख्यमंत्री; बाद में
1977 में जनता पार्टी
के संस्थापकों में से
एक, उप-प्रधानमंत्री
और गृहमंत्री
(1977-79); लोकदल
के संस्थापक।



में
समझ गया!
आपातकाल एक
तरह से तानाशाही
निरोधक टीका था।
इसमें दर्द हुआ और
बुखार भी आया,
लेकिन अंततः
हमारे लोकतंत्र के
भीतर क्षमता
बढ़ी।



साभार: अतनु राय/इंडिया टुडे



साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 13 नवंबर 1979



साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

जनता पार्टी की गुटबाजी पर बहुत-से कार्टून बने। उसकी कुछ बानगी यहाँ आप भी देखें। ये कार्टून अंग्रेजी भाषा के अखबार और पत्रिकाओं में छपे।

और मध्यवर्ग के कई तबके जनता पार्टी को एक मंच के रूप में पाकर इससे आ जुड़े। इस अर्थ में देखें, तो 1977 के चुनाव सिर्फ आपातकाल की कथा नहीं कहते हैं, बल्कि इसके आगे की भी कुछ बातों का संकेत करते हैं।

जनता सरकार

1977 के चुनावों के बाद बनी जनता पार्टी की सरकार में कोई खास तालमेल नहीं था। चुनाव के बाद नेताओं के बीच प्रधानमंत्री के पद के लिए होड़ मची। इस होड़ में मोरारजी देसाई, चरण सिंह और जगजीवन राम शामिल थे। मोरारजी देसाई 1966-67 से ही इंदिरा गाँधी के प्रतिद्वंद्वी थे। चरण सिंह, भारतीय लोकदल के प्रमुख और उत्तर प्रदेश के किसान नेता थे। जगजीवन राम को कांग्रेसी सरकारों में मंत्री पद पर रहने का विशाल अनुभव था। बहरहाल मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने, लेकिन इससे जनता पार्टी के भीतर सत्ता की खींचतान खत्म न हुई।

आपातकाल का विरोध जनता पार्टी को कुछ ही दिनों के लिए एकजुट रख सका। इस पार्टी के आलोचकों ने कहा कि जनता पार्टी के पास किसी दिशा, नेतृत्व अथवा एक साझे कार्यक्रम का अभाव था। जनता पार्टी की सरकार कांग्रेस द्वारा अपनाई गई नीतियों में कोई बुनियादी बदलाव नहीं ला सकी। जनता पार्टी बिखर गई और मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली सरकार ने 18 माह में ही अपना बहुमत खो दिया। कांग्रेस पार्टी के समर्थन पर दूसरी सरकार चरण सिंह के नेतृत्व में बनी। लेकिन बाद में कांग्रेस पार्टी ने समर्थन वापस लेने का फैसला किया। इस वजह से चरण सिंह की सरकार मात्र चार महीने तक सत्ता में रही। 1980 के जनवरी में लोकसभा के लिए नए सिरे से चुनाव हुए। इस चुनाव में जनता पार्टी बुरी तरह परास्त हुई। जनता पार्टी को उत्तर भारत में करारी शिकस्त मिली, जबकि 1977 के चुनाव में उत्तर भारत में इस पार्टी को जबरदस्त सफलता मिली थी। इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी ने 1980 के चुनाव में एक बार फिर 1971 के चुनावों वाली कहानी दुहराते हुए भारी सफलता हासिल की। कांग्रेस पार्टी को 353 सीटें मिलीं और वह सत्ता में आई। 1977-79 के चुनावों ने लोकतांत्रिक राजनीति का एक और सबक सिखाया—सरकार अगर अस्थिर हो और उसके भीतर कलह हो, तो मतदाता ऐसी सरकार को कड़ा दंड देते हैं।

विरासत

लेकिन क्या 1980 के चुनाव में सिर्फ इंदिरा गाँधी की वापसी हुई थी? क्या मामला इतना भर था? 1977 और 1980 के चुनावों के बीच दलगत प्रणाली में नाटकीय बदलाव आए। 1969 के बाद से कांग्रेस का सबको समाहित करके चलने वाला स्वभाव बदलना शुरू हुआ। 1969 से पहले तक कांग्रेस विविध विचारधारात्मक गति-मति के नेताओं और कार्यकर्ताओं को एक में समेटकर चलती थी। अपने बदले हुए स्वभाव में कांग्रेस ने स्वयं को विशेष विचारधारा से जोड़ा। उसने अपने को देश की एकमात्र समाजवादी और गरीबों की हिमायती पार्टी बताना शुरू किया। इस तरह 1970 के दशक के शुरुआती सालों से कांग्रेस की सफलता इस बात पर निर्भर रही कि वह गहरे सामाजिक और विचारधारात्मक विभाजन के आधार पर लोगों को अपनी तरफ कितना खींच पाती है। इसके साथ-साथ



जगजीवन राम

(1908-1986) : स्वतंत्रता सेनानी एवं बिहार के कांग्रेसी नेता; 1977-79 के बीच भारत के उप-प्रधानमंत्री; संविधान सभा के सदस्य; 1952 से मृत्युपर्यंत सांसद; स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में श्रम मंत्री; 1952 से 1977 के बीच अनेक मंत्रालयों की जिम्मेदारी; विद्वान और कुशल प्रशासक।



साभार: इंडिया टुडे



साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

यह कार्टून 1980 के चुनावों के बाद छपा था।

यह पार्टी अब एक नेता यानी इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता पर भी निर्भर हुई। कांग्रेस की प्रकृति में आए बदलावों के मद्देनजर अन्य विपक्षी दल 'गैर-कांग्रेसवाद' की राजनीति की तरफ़ मुड़े। विपक्ष के नेताओं को अब यह बात साफ़-साफ़ नज़र आने लगी कि चुनावों में गैर-कांग्रेसी वोट बिखरने नहीं चाहिए। इस चीज़ ने 1977 के चुनावों में एक बड़ी भूमिका निभाई।

अप्रत्यक्ष रूप से 1977 के बाद पिछड़े वर्गों की भलाई का मुद्दा भारतीय राजनीति पर हावी होना शुरू हुआ। हमने ऊपर गौर किया था कि 1977 के चुनाव-परिणामों पर पिछड़ी जातियों के मतदान का असर पड़ा था, खासकर उत्तर भारत में। लोकसभा के चुनावों के बाद, 1977 में कई राज्यों में विधानसभा के भी चुनाव हुए। इसमें भी उत्तर भारत के राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। इन सरकारों के बनने में पिछड़ी जाति के नेताओं ने महत्वपूर्ण

भूमिका निभाई। बिहार में 'अन्य पिछड़ी जातियों' के आरक्षण के सवाल पर बहुत शोर मचा। इसके बाद केंद्र की जनता पार्टी की सरकार ने मंडल आयोग नियुक्त किया। इस आयोग और पिछड़ी जातियों की राजनीति की भूमिका के बारे में ज्यादा विस्तार से आप अंतिम अध्याय में पढ़ेंगे। आपातकाल के बाद हुए चुनावों ने दलीय व्यवस्था के भीतर इस बदलाव की प्रक्रिया शुरू कर दी।

आपातकाल और इसके आसपास की अवधि को हम संवैधानिक संकट की अवधि के रूप में भी देख सकते हैं। संसद और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र को लेकर छिड़ा संवैधानिक संघर्ष भी आपातकाल के मूल में था। दूसरी तरफ़ यह राजनीतिक संकट का भी दौर था। सत्ताधारी पार्टी के पास पूर्ण बहुमत था। फिर भी, इसके नेतृत्व ने लोकतंत्र को ठप्प करने का फैसला किया। भारतीय संविधान के निर्माताओं को विश्वास था कि सभी राजनीतिक दल लोकतांत्रिक मानकों का पालन करेंगे। उन्हें यह भी विश्वास था कि आपातकाल की स्थिति में भी सरकार अपनी असाधारण शक्तियों का इस्तेमाल विधि के शासन के दायरे में रहते हुए ही करेगी। इसी उम्मीद में सरकार को आपातकाल से जुड़े प्रावधानों के अंतर्गत व्यापक और चहुँमुखी शक्तियाँ दे दी गईं। इन शक्तियों का आपातकाल के दौरान दुरुपयोग हुआ। यह राजनीतिक संकट तत्कालीन संवैधानिक संकट से कहीं ज्यादा संगीन था।

इस दौर में एक और महत्वपूर्ण मसला संसदीय लोकतंत्र में जन आंदोलन की भूमिका और उसकी सीमा को लेकर उठा। स्पष्ट ही इस दौर में संस्था आधारित लोकतंत्र और स्वतःस्फूर्त जन-भागीदारी पर आधारित लोकतंत्र में तनाव नज़र आया। इस तनाव का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि हमारी दलीय प्रणाली जनता की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम साबित नहीं हुई। आगे के दो अध्यायों में हम इस तनाव की कुछ अभिव्यक्तियों को समझने की कोशिश करेंगे। इन अध्यायों में हम विशेष रूप से जन आंदोलन और क्षेत्रीय पहचान से जुड़ी बहसों के बारे में पढ़ेंगे।

सिने-संसार

हजारों ख्वाहिशें ऐसी



सिद्धार्थ, विक्रम और गीता मेधावी और सामाजिक सरोकार वाले छात्र हैं। दिल्ली में अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद तीनों अलग-अलग राह पर निकल पड़ते हैं। सिद्धार्थ सामाजिक बदलाव के लिए क्रांतिकारी विचारधारा का हिमायती है। विक्रम की दलील जिंदगी में कामयाबी हासिल करने की है, चाहे इसके लिए जो भी कीमत चुकानी पड़े। अपनी जिंदगी के मकसद को हासिल करने निकले इन लोगों के सुख-दुख के इर्द-गिर्द यह कहानी चलती है।

फ़िल्म की पृष्ठभूमि सत्तर के दशक की है। इस फ़िल्म के युवा चरित्र उस दौर की अपेक्षाओं और आदर्शवाद की उपज हैं। सिद्धांत क्रांति के अपने मकसद में सफल नहीं होता है, लेकिन वह गरीबों के दुख-दर्द इस तरह अपना चुका है कि उसे क्रांति की जगह ऐसे लोगों की हालत में थोड़ी बेहतरी ला पाना भी अच्छा लगने लगता है। दूसरी तरफ़, विक्रम एक आमफहम राजनीतिक तिकड़मबाज बन जाता है। लेकिन अपने इस काम को लेकर उसका मन कचोटता रहता है।

वर्ष : 2005

निर्देशक : सुधीर मिश्र

पटकथा : रवि नारायण, शिव कुमार, सुब्रह्मण्यम
अभिनय : के.के. मेनन, शाइनी आहूजा, चित्रांगदा सिंह

प्रश्नावली

1. बताएँ कि आपातकाल के बारे में निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत—

- (क) आपातकाल की घोषणा 1975 में इंदिरा गाँधी ने की।
- (ख) आपातकाल में सभी मौलिक अधिकार निष्क्रिय हो गए।
- (ग) बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के मद्देनजर आपातकाल की घोषणा की गई थी।
- (घ) आपातकाल के दौरान विपक्ष के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।
- (ङ) सी.पी.आई. ने आपातकाल की घोषणा का समर्थन किया।

2. निम्नलिखित में से कौन-सा आपातकाल की घोषणा के संदर्भ से मेल नहीं खाता है:

- (क) 'संपूर्ण क्रांति' का आह्वान
- (ख) 1974 की रेल-हड़ताल
- (ग) नक्सलवादी आंदोलन
- (घ) इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फ़ैसला
- (ङ) शाह आयोग की रिपोर्ट के निष्कर्ष

3. निम्नलिखित में मेल बैठाएँ

- | | |
|---------------------|----------------------|
| (क) संपूर्ण क्रांति | (i) इंदिरा गाँधी |
| (ख) गरीबी हटाओ | (ii) जयप्रकाश नारायण |
| (ग) छात्र आंदोलन | (iii) बिहार आंदोलन |
| (घ) रेल हड़ताल | (iv) जॉर्ज फर्नांडिस |

4. किन कारणों से 1980 में मध्यावधि चुनाव करवाने पड़े?

5. जनता पार्टी ने 1977 में शाह आयोग को नियुक्त किया था। इस आयोग की नियुक्ति क्यों की गई थी और इसके क्या निष्कर्ष थे?

6. 1975 में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा करते हुए सरकार ने इसके क्या कारण बताए थे?

7. 1977 के चुनावों के बाद पहली दफा केंद्र में विपक्षी दल की सरकार बनी। ऐसा किन कारणों से संभव हुआ?

8. हमारी राजव्यवस्था के निम्नलिखित पक्ष पर आपातकाल का क्या असर हुआ?

- नागरिक अधिकारों की दशा और नागरिकों पर इसका असर
- कार्यपालिका और न्यायपालिका के संबंध
- जनसंचार माध्यमों के कामकाज

● पुलिस और नौकरशाही की कार्रवाइयाँ

9. भारत की दलीय प्रणाली पर आपातकाल का किस तरह असर हुआ? अपने उत्तर की पुष्टि उदाहरणों से करें।
10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें—

1977 के चुनावों के दौरान भारतीय लोकतंत्र, दो-दलीय व्यवस्था के जितना नज़दीक आ गया था उतना पहले कभी नहीं आया। बहरहाल अगले कुछ सालों में मामला पूरी तरह बदल गया। हारने के तुरंत बाद कांग्रेस दो टुकड़ों में बँट गई..... जनता पार्टी में भी बड़ी अफरा-तफरी मची.....डेविड बटलर, अशोक लाहिड़ी और प्रणव रॉय

– पार्था चटर्जी

(क) किन वजहों से 1977 में भारत की राजनीति दो-दलीय प्रणाली के समान जान पड़ रही थी?

(ख) 1977 में दो से ज़्यादा पार्टियाँ अस्तित्व में थीं। इसके बावजूद लेखकगण इस दौर को दो-दलीय प्रणाली के नज़दीक क्यों बता रहे हैं?

(ग) कांग्रेस और जनता पार्टी में किन कारणों से टूट पैदा हुई?



संभार: भवान सिंह

इस अध्याय में...

आज़ादी के तीन दशक बाद लोगों का धीरज टूटने लगा था। जनता की बेचैनी कई रूपों में अभिव्यक्त हुई। पिछले अध्याय में हम चुनावी भूचाल और राजनीतिक संकट के बारे में पढ़ ही चुके हैं। बहरहाल, जन-असंतोष की अभिव्यक्ति सिर्फ इसी रूप में ही नहीं हुई। 1970 के दशक में विभिन्न सामाजिक वर्गों, जैसे-महिला, छात्र, दलित और किसानों को लग रहा था कि लोकतांत्रिक राजनीति उनकी जरूरत और माँगों पर ध्यान नहीं दे रही है। इसके चलते ये समूह अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए विभिन्न सामाजिक संगठनों के झंडे के नीचे एकजुट हुए। इन आवाज़ों से जन आंदोलन का ज्वार उमड़ा और भारतीय राजनीति में नए सामाजिक आंदोलन सक्रिय हुए।

इस अध्याय में हम 1970 के दशक के बाद के जन आंदोलनों की विकास-यात्रा को परखने की कोशिश करेंगे। इस चर्चा से हम समझ सकेंगे कि :

- जन आंदोलन क्या हैं?
- भारतीय समाज के किन तबकों को इन आंदोलनों ने लामबंद किया है?
- हमारे लोकतांत्रिक ढाँचे में ये जन आंदोलन क्या भूमिका निभाते हैं?

इस पृष्ठ तथा अगले पृष्ठों पर दिए गए चित्रों में चिपको आंदोलन के सहभागियों एवं नेताओं को दर्शाया गया है। यह आंदोलन देश के पर्यावरणीय आंदोलनों में अहम स्थान रखता है।

जन आंदोलनों का उदय



12122CH07

जन आंदोलनों की प्रकृति

इस अध्याय के शुरुआती चित्र पर ध्यान दीजिए। आप इसमें क्या देख रहे हैं? गाँव की महिलाओं ने सचमुच पेड़ों को अपनी बाँहों में बाँध रखा है। क्या ये लोग कोई खेल खेल रहे हैं या, ये लोग कोई पर्व-त्योहार मना रहे हैं? दरअसल चित्र में नज़र आ रहे लोग ऐसा कुछ नहीं कर रहे हैं। यहाँ जो तस्वीर दी गई है उसमें सामूहिक कार्रवाई की एक असाधारण घटना को दर्ज किया गया है। यह घटना 1973 में घटी जब मौजूदा उत्तराखंड के एक गाँव के स्त्री-पुरुष एकजुट हुए और जंगलों की व्यावसायिक कटाई का विरोध किया। सरकार ने जंगलों की कटाई के लिए अनुमति दी थी। गाँव के लोगों ने अपने विरोध को जताने के लिए एक नयी तरकीब अपनायी। इन लोगों ने पेड़ों को अपनी बाँहों में घेर लिया ताकि उन्हें कटने से बचाया जा सके। यह विरोध आगामी दिनों में भारत के पर्यावरण आंदोलन के रूप में परिणत हुआ और 'चिपको-आंदोलन' के नाम से विश्वप्रसिद्ध हुआ।

चिपको आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत उत्तराखंड के दो-तीन गाँवों से हुई थी। इसके पीछे एक कहानी है। गाँव वालों ने वन विभाग से कहा कि खेती-बाड़ी के औज़ार बनाने के लिए हमें अंगू के पेड़ काटने की अनुमति दी जाए। वन विभाग ने अनुमति देने से इनकार कर दिया। बहरहाल, विभाग ने खेल-सामग्री के एक विनिर्माता को ज़मीन का यही टुकड़ा व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए आबंटित कर दिया। इससे गाँव वालों में रोष पैदा हुआ और उन्होंने सरकार के इस कदम का विरोध किया। यह विरोध बड़ी जल्दी उत्तराखंड के अन्य इलाकों में भी फैल गया। क्षेत्र की पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के कहीं बड़े सवाल उठने लगे। गाँववासियों ने माँग की कि

है तो यह
बड़ी शानदार बात!
लेकिन कोई मुझे बताए
कि हम जो यहाँ राजनीति का
इतिहास पढ़ रहे हैं उससे यह
बात कैसे जुड़ती है?



साधारः अनुपम मिश्र



यहाँ दिए गए दो चित्र चिपको आंदोलन में संघर्ष के दिनों के साक्षी हैं। गौर कीजिए कि इस आंदोलन में महिलाओं ने पूरी दृढ़ता के साथ भाग लिया था और इस आंदोलन ने एक नयी दिशा दी थी।

जंगल की कटाई का कोई भी ठेका बाहरी व्यक्ति को नहीं दिया जाना चाहिए और स्थानीय लोगों का जल, जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर कारगर नियंत्रण होना चाहिए। लोग चाहते थे कि सरकार लघु-उद्योगों के लिए कम कीमत की सामग्री उपलब्ध कराए और इस क्षेत्र के पारिस्थितिकी संतुलन को नुकसान पहुँचाए बगैर यहाँ का विकास सुनिश्चित करे। आंदोलन ने भूमिहीन वन कर्मचारियों का आर्थिक मुद्दा भी उठाया और न्यूनतम मजदूरी की गारंटी की माँग की।

चिपको आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी की। यह आंदोलन का एकदम नया पहलू था। इलाके में सक्रिय जंगल कटाई के ठेकेदार यहाँ के पुरुषों को शराब की आपूर्ति का भी व्यवसाय करते थे। महिलाओं ने शराबखोरी की लत के खिलाफ भी लगातार आवाज़ उठायी। इससे आंदोलन का दायरा विस्तृत हुआ और उसमें कुछ और सामाजिक मसले आ जुड़े। आखिरकार इस आंदोलन को सफलता मिली और सरकार ने पंद्रह सालों के लिए हिमालयी क्षेत्र में पेड़ों की कटाई पर रोक लगा दी ताकि इस अवधि में क्षेत्र का वनाच्छादन फिर से ठीक अवस्था में आ जाए। बहरहाल, बात इस आंदोलन की सफलता की तो है ही, साथ ही हमें यह भी याद रखना होगा कि यह आंदोलन सत्तर के दशक और उसके बाद के सालों में देश के विभिन्न भागों में उठे अनेक जन आंदोलनों का प्रतीक बन गया। इस अध्याय में हम ऐसे ही कुछ आंदोलनों के बारे में पढ़ेंगे।

दल-आधारित आंदोलन

जन आंदोलन कभी सामाजिक तो कभी राजनीतिक आंदोलन का रूप ले सकते हैं और अक्सर ये आंदोलन दोनों ही रूपों के मेल से बने नज़र आते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने स्वाधीनता आंदोलन को ही लें। यह मुख्य रूप से राजनीतिक आंदोलन था लेकिन हम जानते हैं कि औपनिवेशिक दौर में सामाजिक-आर्थिक मसलों पर भी विचार मंथन चला जिससे अनेक स्वतंत्र सामाजिक आंदोलनों का जन्म हुआ, जैसे-जाति प्रथा विरोधी आंदोलन, किसान सभा आंदोलन और मजदूर संगठनों के आंदोलन। ये आंदोलन बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में अस्तित्व में आए। इन आंदोलनों ने सामाजिक संघर्षों के कुछ अंदरूनी मुद्दे उठाए।

ऐसे कुछ आंदोलन आज़ादी के बाद के दौर में भी चलते रहे। मुंबई, कोलकाता और कानपुर जैसे बड़े शहरों के औद्योगिक मजदूरों के बीच मजदूर संगठनों के आंदोलन का बड़ा जोर था। सभी बड़ी पार्टियों ने इस तबके के मजदूरों को लामबंद करने के लिए अपने-अपने मजदूर संगठन बनाए। आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के किसान कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में लामबंद हुए। इन्होंने काश्तकारों के बीच ज़मीन के पुनर्वितरण की माँग की। आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार के कुछ भागों में किसान तथा खेतिहर मजदूरों ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में अपना विरोध जारी रखा।



गैर राजनीतिक संगठन? मैं यह बात कुछ समझा नहीं! आखिर, पार्टी के बिना राजनीति कैसे की जा सकती है।

आप मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूहों के बारे में पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। इन्हें 'नक्सलवादी' के नाम से जाना गया। किसान और मजदूरों के आंदोलन का मुख्य जोर आर्थिक अन्याय तथा असमानता के मसले पर रहा। ऐसे आंदोलनों ने औपचारिक रूप से चुनावों में भाग तो नहीं लिया लेकिन राजनीतिक दलों से इनका नज़दीकी रिश्ता कायम हुआ। इन आंदोलनों में शरीक कई व्यक्ति और संगठन राजनीतिक दलों से सक्रिय रूप से जुड़े। ऐसे जुड़ावों से दलगत राजनीति में विभिन्न सामाजिक तबकों की बेहतर नुमाइंदगी सुनिश्चित हुई।

राजनीतिक दलों से स्वतंत्र आंदोलन

‘सत्तर’ और ‘अस्सी’ के दशक में समाज के कई तबकों का राजनीतिक दलों के आचार-व्यवहार से मोहभंग हुआ। इसका तात्कालिक कारण तो यही था कि जनता पार्टी के रूप में गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग कुछ खास नहीं चल पाया और इसकी असफलता से राजनीतिक अस्थिरता का माहौल भी कायम हुआ था। लेकिन, अगर कारणों की खोज ज़रा दूर तक करें तो पता चलेगा कि सरकार की आर्थिक नीतियों से भी लोगों का मोहभंग हुआ था। देश ने आज़ादी के बाद नियोजित विकास (Planned Development) का मॉडल अपनाया था। इस मॉडल को अपनाने के पीछे दो लक्ष्य थे—आर्थिक संवृद्धि और आय का समतापूर्ण बँटवारा। आप इसके बारे में तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हैं। आज़ादी के शुरुआती 20 सालों में अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उल्लेखनीय संवृद्धि हुई, लेकिन इसके बावजूद गरीबी और असमानता बड़े पैमाने पर बरकरार रही। आर्थिक संवृद्धि के लाभ समाज के हर तबके को समान मात्रा में नहीं मिले। जाति और लिंग पर आधारित सामाजिक असमानताओं ने गरीबी के मसले को और ज़्यादा जटिल तथा धारदार बना दिया। शहरी-औद्योगिक क्षेत्र तथा ग्रामीण कृषि-क्षेत्र के बीच भी एक न पाटी जा सकने वाली फाँक पैदा हुई। समाज के विभिन्न समूहों के बीच अपने साथ हो रहे अन्याय और वंचना का भाव प्रबल हुआ।

राजनीतिक धरातल पर सक्रिय कई समूहों का विश्वास लोकतांत्रिक संस्थाओं और चुनावी राजनीति से उठ गया। ये समूह दलगत राजनीति से अलग हुए और अपने विरोध को स्वर देने के लिए इन्होंने आवाम को लामबंद करना शुरू किया। इस काम में छात्र तथा समाज के विभिन्न तबकों के राजनीतिक कार्यकर्ता आगे आए और दलित तथा आदिवासी जैसे हाशिए पर धकेल दिए गए समूहों को लामबंद करना शुरू किया। मध्यवर्ग के युवा कार्यकर्ताओं ने गाँव के गरीब लोगों के बीच रचनात्मक कार्यक्रम तथा सेवा संगठन चलाए। इन संगठनों के सामाजिक कार्यों की प्रकृति स्वयंसेवी थी इसलिए इन संगठनों को स्वयंसेवी संगठन या स्वयंसेवी क्षेत्र के संगठन कहा गया।

ऐसे स्वयंसेवी संगठनों ने अपने को दलगत राजनीति से दूर रखा। स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर ये संगठन न तो चुनाव लड़े और न ही इन्होंने किसी एक राजनीतिक दल को अपना समर्थन दिया। ऐसे अधिकांश संगठन राजनीति में विश्वास करते थे और उसमें भागीदारी भी करना चाहते थे, लेकिन इन्होंने राजनीतिक भागीदारी के लिए राजनीतिक दलों को नहीं चुना। इसी कारण इन संगठनों को ‘स्वतंत्र राजनीतिक संगठन’ कहा जाता है। इन संगठनों का मानना था कि स्थानीय मसलों के समाधान में स्थानीय नागरिकों की सीधी और सक्रिय भागीदारी राजनीतिक दलों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा कारगर होगी। इन संगठनों का विश्वास था कि लोगों की सीधी भागीदारी से लोकतांत्रिक सरकार की प्रकृति में सुधार आएगा।

जन आंदोलनों में अक्सर अपने सरोकारों को जाहिर करने के लिए पोस्टरों का इस्तेमाल होता है। बहुधा ये पोस्टर बड़े कल्पनाशील और सुंदर ढंग से बने होते हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ पोस्टरों की एक बानगी दी गई है। देखें (ऊपर से नीचे क्रमवार) पहला पोस्टर कोका कोला संयंत्र के विरोध में बनाया गया; दूसरा पोस्टर एक राजमार्ग के निर्माण के प्रति विरोध जताने के लिए तैयार किया गया है। तीसरा पोस्टर पेरियार नदी को बचाने के एक अभियान से संबंधित है।



संसार: डिज़ाइन एंड पीपल

नामदेव ढसाल

सदियों तक सफर किया उन लोगों ने/सूरज की तरफ पीठ किए
लेकिन अब, हमें कहना है 'ना'/अंधेरे की इस पथयात्रा से।
हाँ! हमारे पुरखे-अंधेरे को ढोते-ढोते झुक गए
लेकिन अब, हमें उतारना है बोझ उनकी पीठ से।
इस अनुपम नगर के लिए ही बिखरा था हमारा लहू
और बदले में यह मिला-खाने को पत्थर!
लेकिन अब, हमें ढाहनी ही होगी/यह इमारत जो चूम रही आकाश को।
हजारों बरस बाद मिला हमें/वह सूरजमुखी आशीषों वाला फकीर
अब, हाँ अब! सूरजमुखी की तरह हमें भी/घुमाना ही होगा मुख अपना सूरज की तरफ।

— नामदेव ढसाल कृत *गोलपीठ* की मराठी कविता का हिंदी अनुवाद



अब भी ऐसे स्वयंसेवी संगठन शहरी और ग्रामीण इलाकों में लगातार सक्रिय हैं। बहरहाल, अब इनकी प्रकृति बदल गई है। बाद के समय में ऐसे अनेक संगठनों का वित्त-पोषण विदेशी एजेंसियों से होने लगा। ऐसी एजेंसियों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर की सर्विस-एजेंसियाँ भी शामिल हैं। इन संगठनों को बड़े पैमाने पर अब विदेशी धनराशि प्राप्त होती है जिससे स्थानीय पहल का आदर्श कुछ कमजोर हुआ है।

दलित पैथर्स

मराठी के प्रसिद्ध कवि नामदेव ढसाल की इस कविता को पढ़िए। क्या आप बता सकते हैं कि इस कविता में आए 'अंधेरे की पथयात्रा' और 'सूरजमुखी आशीषों वाला फकीर' के क्या अर्थ हैं? 'अंधेरे की पथयात्रा' से संकेत दलित समुदाय की ओर किया गया है। इस समुदाय ने हमारे समाज में लंबे समय तक क्रूरतापूर्ण जातिगत अन्याय को भुगता है। कवि ने इस समुदाय के मुक्तिदाता डॉ. अंबेडकर को इंगित करने के लिए 'सूरजमुखी आशीषों वाला फकीर' पद का प्रयोग किया है। महाराष्ट्र के दलित-कवियों ने सत्तर के दशक में ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं। आजादी के बीस साल बाद भी दलित समुदाय को पीड़ा के अनुभवों से गुजरना पड़ रहा था और उनकी इस पीड़ा तथा आक्रोश की अभिव्यक्ति इन कविताओं में हुई। बहरहाल, दलित समुदाय अपने लिए एक सुंदर भविष्य की आशा से भरा हुआ था— एक ऐसा भविष्य जिसे दलित समुदाय स्वयं अपने हाथों से गढ़े। आप सामाजिक-आर्थिक बदलावों को लेकर डॉ. अंबेडकर के स्वप्न और हिंदू जाति-व्यवस्था के ढाँचे से बाहर दलितों को एक गरिमापूर्ण स्थान दिलाने के उनके जुझारू संघर्ष की बातों को जान चुके हैं। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि दलित मुक्ति से प्रेरित अधिकांश रचनाओं में डॉ. अंबेडकर का वर्णन एक प्रेरणा-पुरुष के रूप में मिलता है।



क्या दलितों की स्थिति इसके बाद से ज्यादा बदल गई है? दलितों पर अत्याचार की घटनाओं के बारे में मैं रोज़ाना सुनती हूँ। क्या यह आंदोलन असफल रहा? या, यह पूरे समाज की असफलता है?

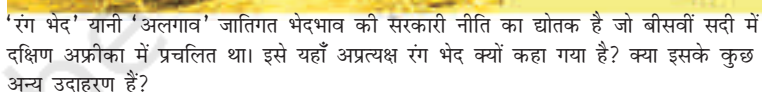
उदय

सातवें दशक के शुरुआती सालों से शिक्षित दलितों की पहली पीढ़ी ने अनेक मंचों से अपने हक की आवाज़ उठायी। इनमें ज्यादातर शहर की झुग्गी-बस्तियों में पलकर बड़े हुए दलित थे। दलित हितों की दावेदारी के इसी क्रम में महाराष्ट्र में 1972 में दलित युवाओं का एक संगठन 'दलित पैथर्स' बना। आजादी के बाद के सालों में दलित समूह मुख्यतया जाति-आधारित असमानता और भौतिक साधनों के मामले में अपने साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ़ लड़

जीतने के लिए इन्हें किसी दूसरी पार्टी के साथ गठजोड़ करना पड़ता था। ये पार्टियाँ लगातार टूट की भी शिकार हुईं। इन वजहों से 'दलित पैथर्स' ने दलित अधिकारों की दावेदारी करते हुए जन-कार्रवाई का रास्ता अपनाया।

महाराष्ट्र के विभिन्न इलाकों में दलितों पर बढ़ रहे अत्याचार से लड़ना दलित पैथर्स की अन्य मुख्य गतिविधि थी। दलित पैथर्स तथा इसके समधर्मा संगठनों ने दलितों पर हो रहे अत्याचार के मुद्दे पर लगातार विरोध आंदोलन चलाया। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने 1989 में एक व्यापक कानून बनाया। इस कानून के अंतर्गत दलित पर अत्याचार करने वाले के लिए कठोर दंड का प्रावधान किया गया। दलित पैथर्स का बृहत्तर विचारधारात्मक एजेंडा जाति प्रथा को समाप्त करना तथा भूमिहीन गरीब किसान, शहरी औद्योगिक मजदूर और दलित सहित सारे वंचित वर्गों का एक संगठन खड़ा करना था।

साधारः अनहद एवं एनसीडीएचआर



भारतीय समाज के सबसे दबे-कुचले तबके के जीवन के अनुभव इन रचनाओं में दर्ज थे। इन रचनाओं से मराठी भाषा के साहित्य में ज़बर्दस्त हिलोर उठी। साहित्य का दायरा अब ज़्यादा विस्तृत हुआ। उसमें समाज के विभिन्न वर्गों की नुमाइंदगी हुई और संस्कृति के धरातल पर एक टकराहट की शुरुआत हुई। आपातकाल के बाद के दौर में दलित पैथर्स ने चुनावी समझौते किए। उसमें कई विभाजन भी हुए और यह संगठन राजनीतिक पतन का शिकार हुआ। बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी एम्पलाईज़ फेडरेशन (बामसेफ) ने दलित पैथर्स की अवनति से उत्पन्न रिक्त स्थान की पूर्ति की।

भारतीय किसान यूनियन

सत्तर के दशक से भारतीय समाज में कई तरह के असंतोष पैदा हुए। यहाँ तक कि समाज के जिन तबकों को विकास प्रक्रिया में कुछ लाभ हुआ था उनमें भी सरकार और राजनीतिक दलों के प्रति नाराज़गी थी। अस्सी के दशक का कृषक-संघर्ष इसका एक उदाहरण है जब अपेक्षाकृत धनी किसानों ने सरकार की नीतियों का विरोध किया।

उदय

1988 के जनवरी में उत्तर प्रदेश के एक शहर मेरठ में लगभग बीस हजार किसान जमा हुए। ये किसान सरकार द्वारा बिजली की दर में की गई बढ़ोतरी का विरोधी कर रहे थे। किसान ज़िला समाहर्ता के दफ्तर के बाहर तीन हफ्तों तक डेरा डाले रहे। इसके बाद इनकी माँग मान ली गई। किसानों का यह बड़ा अनुशासित धरना था और जिन दिनों वे धरने पर बैठे थे उन दिनों आस-पास के गाँवों से उन्हें निरंतर राशन-पानी मिलता रहा। मेरठ के इस धरने को ग्रामीण शक्ति का या कहें कि काश्तकारों की शक्ति का एक बड़ा प्रदर्शन माना गया। धरने पर बैठे किसान, भारतीय किसान यूनियन (बीकेयू) के सदस्य थे। बीकेयू पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के किसानों का एक संगठन था। यह अस्सी के दशक के किसान आंदोलन के अग्रणी संगठनों में एक था।



साभार: हिंदुस्तान टाइम्स

पंजाब में भारतीय किसान यूनियन की एक रैली

तीसरे अध्याय में आपने पढ़ा था कि सरकार ने जब 'हरित क्रांति' की नीति अपनाई तो 1960 के दशक के अंतिम सालों से हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों को फ़ायदा होना शुरू हो गया। इसके बाद के सालों से इन इलाकों में गन्ना और गेहूँ मुख्य नगदी फ़सल बने। 1980 के दशक के उत्तरार्ध से भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के प्रयास हुए और इस क्रम में नगदी फ़सल के बाज़ार को संकट का सामना करना पड़ा। भारतीय किसान यूनियन ने गन्ने और गेहूँ के सरकारी खरीद मूल्य में बढ़ोतरी करने, कृषि उत्पादों के अंतर्राज्यीय आवाजाही पर लगी पाबंदियाँ हटाने, समुचित दर पर गारंटीशुदा बिजली आपूर्ति करने, किसानों के बकाया कर्ज़ माफ़ करने तथा किसानों के लिए पेंशन का प्रावधान करने की माँग की।

ऐसी माँगें देश के अन्य किसान संगठनों ने भी उठाईं। महाराष्ट्र के शेतकारी संगठन ने किसानों के आंदोलन को 'इंडिया' की ताकतों (यानी शहरी औद्योगिक क्षेत्र) के खिलाफ़ 'भारत' (यानी ग्रामीण कृषि क्षेत्र) का संग्राम करार दिया। आप तीसरे अध्याय में यह बात पढ़ ही चुके हैं कि भारत में अपनाए गए विकास के मॉडल से जुड़े विवादों में कृषि बनाम उद्योग का विवाद प्रमुख था। यही विवाद अस्सी के दशक में एक बार फिर उठा जब उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के कारण कृषि क्षेत्र पर खतरे मँडराने लगे थे।

विशेषताएँ

सरकार पर अपनी माँगों को मानने के लिए दबाव डालने के क्रम में बीकेयू ने रैली, धरना, प्रदर्शन और जेल भरो अभियान का सहारा लिया। इन कार्रवाइयों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उसके आस-पास के इलाके के गाँवों के हजारों-हजार (कभी-कभी तो एक लाख से भी ज्यादा) किसानों ने भाग लिया। पूरे अस्सी के दशक भर बीकेयू ने राज्य के अनेक जिला मुख्यालयों पर इन किसानों की विशाल रैली आयोजित की। देश की राजधानी दिल्ली में भी बीकेयू ने रैली का आयोजन किया। इस लामबंदी का एक नया पक्ष यह था कि इसमें किसानों के जातिगत जुड़ाव का इस्तेमाल किया गया था। बीकेयू के अधिकांश सदस्य एक खास समुदाय के थे। इस संगठन ने जातिगत समुदायों को आर्थिक मसले पर एकजुट करने के लिए 'जाति-पंचायत' की परंपरागत संस्था का उपयोग किया। किसी औपचारिक सांगठनिक ढाँचे के अभाव के बावजूद बीकेयू अपने को लंबे समय तक कायम रख सका क्योंकि यह संगठन अपने सदस्यों के जातिगत-वंशगत संपर्क-जाल पर आधारित था। बीकेयू के लिए धनराशि और संसाधन इन्हीं संपर्कतंत्रों से जुटाए जाते थे और इन्हीं के सहारे बीकेयू की गतिविधियाँ भी संचालित होती थीं।

1990 के दशक के शुरुआती सालों तक बीकेयू ने अपने को सभी राजनीतिक दलों से दूर रखा था। यह अपने सदस्यों के संख्या बल के दम पर राजनीति में एक दबाव समूह की तरह सक्रिय था। इस संगठन ने राज्यों में मौजूद अन्य किसान संगठनों को साथ लेकर अपनी कुछ माँगें मनवाने में सफलता पाई। इस अर्थ में किसान आंदोलन अस्सी के दशक में सबसे ज्यादा सफल सामाजिक आंदोलन था। इस आंदोलन की सफलता के पीछे इसके सदस्यों की राजनीतिक मोल-भाव की क्षमता का हाथ था। यह आंदोलन मुख्य रूप से देश के समृद्ध राज्यों में सक्रिय था। खेती को अपनी जीविका का आधार बनाने वाले अधिकांश भारतीय किसानों के विपरीत बीकेयू

मुझे कोई ऐसा नहीं मिला जो कहे कि मैं किसान बनना चाहता हूँ। क्या हमें अपने देश में किसानों की जरूरत नहीं है?



बीकेयू: कृषि को डब्ल्यूटीओ से बाहर रखे सरकार

कार्यालय संवाददाता

मैसूर: 15 फरवरी— भारतीय किसान यूनियन ने चेतावनी दी है कि अगर भारत ने कृषि को विश्व व्यापार संगठन के दायरे से बाहर रखने के लिए ज़रूरी कदम नहीं उठाए तो देश को इसके सामाजिक-आर्थिक परिणाम भुगतने होंगे।

यूनियन के प्रमुख महेन्द्र सिंह टिकैत और इसकी राष्ट्रीय समायोजन समिति के संयोजक एम. युद्धवीर सिंह ने आज यहाँ एक प्रेस-सम्मेलन में चेताया कि अगर भारत विश्व व्यापार संगठन के कायदे-कानूनों को मान लेता है तो यह उसके लिए खतरनाक होगा। विश्व व्यापार संगठन की अगले दौर की बैठक नवंबर में हाँगाकॉंग में होने वाली है। नेताओं ने कहा कि सरकार पर दबाव डालने के लिए आगामी 17 मार्च को नयी दिल्ली में रैली निकाली जाएगी ताकि सरकार खेती से संबंधित विश्व व्यापार संगठन के कानूनों के आगे घुटने न टेके। रैली में देश के विभिन्न हिस्सों से लगभग पाँच लाख किसानों के आने की उम्मीद है। रैली के बाद बीकेयू पूरे देश में विश्व व्यापार संगठन के खिलाफ़ आंदोलन चलाएगा।

साभार: द हिन्दू, 16 फरवरी 2005



हमकंपन

नेशनल फिशवर्कर्स फोरम

क्या आप जानते हैं कि मछुआरों की संख्या के लिहाज से भारत का विश्व में दूसरा स्थान है? अपने देश के पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही तटीय इलाकों में देसी मछुआरा समुदायों के हजारों-हजार परिवार मछली मारने के पेशे में संलग्न हैं। सरकार ने जब मशीनीकृत मत्स्य-आखेट और भारतीय समुद्र में बड़े पैमाने पर मत्स्य-दोहन के लिए 'बॉटम ट्राऊलिंग' जैसे प्रौद्योगिकी के उपयोग की अनुमति दी तो मछुआरों के जीवन और आजीविका के आगे संकट आ खड़ा हुआ। पूरे सत्तर और अस्सी के दशक के दौरान मछुआरों के स्थानीय स्तर के संगठन अपनी आजीविका के मसले पर राज्य सरकारों से लड़ते रहे। चूँकि मत्स्य-आखेट राज्य-सूची का विषय है इसलिए मछुआरे ज्यादातर क्षेत्रीय-स्तर पर ही लामबंद हुए।

1980 के दशक के मध्यवर्ती वर्षों में आर्थिक उदारीकरण की नीति की शुरुआत हुई तो बाध्य होकर मछुआरों के स्थानीय संगठनों ने अपना एक राष्ट्रीय मंच बनाया। इसका नाम 'नेशनल फिशवर्कर्स फोरम' (एन.एफ.एफ.) रखा गया। केरल के मछुआरों ने अपने हमपेशा साथियों को लामबंद करने की मुख्य जिम्मेवारी सँभाली। इसके अंतर्गत दूसरे राज्यों की हमपेशा महिलाओं को भी अपने साथ लामबंद करने का जिम्मा शामिल था। नेशनल फिशवर्कर्स फोरम ने 1997 में केंद्र सरकार के साथ अपनी पहली कानूनी लड़ाई लड़ी और इसमें उसे सफलता मिली। इस क्रम में इसके कामकाज ने एक ठोस रूप भी ग्रहण किया। एनएफएफ की यह लड़ाई सरकार की एक खास नीति के खिलाफ थी। केंद्र सरकार की इस नीति के अंतर्गत व्यावसायिक जहाजों को गहरे समुद्र में मछली मारने की इजाजत दी गई थी। इस नीति के कारण अब बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए भी इस क्षेत्र के दरवाजे खुल गए थे। पूरे 1990 के दशक में एनएफएफ ने केंद्र सरकार के साथ अनेक कानूनी लड़ाइयाँ लड़ीं और सार्वजनिक संघर्ष किया। इस मंच ने उन लोगों के हितों की रक्षा के प्रयास किए जो अपने जीवनयापन के लिए मछली मारने के पेशे से जुड़े थे न कि उनके, जो इस क्षेत्र में महज लाभ के लिए निवेश करते हैं। सन् 2002 के जुलाई में एनएफएफ ने एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। हड़ताल का यह आह्वान विदेशी कंपनियों को सरकार द्वारा मछली मारने के लाइसेंस जारी करने के विरोध में किया गया था। एनएफएफ ने पारिस्थितिकी की रक्षा और मछुआरों के जीवन को बचाने के लिए विश्वभर के समधर्मा संगठनों के साथ हाथ मिलाया है।

जैसे संगठनों के सदस्य बाज़ार के लिए नगदी फ़सल उपजाते थे। बीकेयू के समान राज्यों के अन्य किसान संगठनों ने अपने सदस्य उन समुदायों के बीच से बनाए जिनका क्षेत्र की चुनावी राजनीति में रसूख था। महाराष्ट्र का शेतकारी संगठन और कर्नाटक का रैयत संघ ऐसे किसान संगठनों के जीवंत उदाहरण हैं।

महिलाओं ने शराब माफ़िया को हराया

चित्तूर ज़िले के कलिनारी मंडल स्थित गुंडलुर गाँव की महिलाएँ अपने गाँव में ताड़ी की बिक्री पर पाबंदी लगाने के लिए एकजुट हुईं। उन्होंने अपनी बात गाँव के ताड़ी विक्रेता तक पहुँचाई। महिलाओं ने गाँव में ताड़ी लाने वाली जीप को वापस लौटने पर मजबूर कर दिया। जब गाँव के ताड़ी-विक्रेता ने ठेकेदार को इसकी सूचना दी तो ठेकेदार ने उसके साथ गुंडों का एक दल भेजा। गाँव की महिलाएँ इससे भी नहीं डरीं। ठेकेदार ने पुलिस को बुलाया लेकिन पुलिस भी पीछे हट गई। एक सप्ताह बाद ताड़ी की बिक्री का विरोध करने वाली महिलाओं पर ठेकेदार के गुंडों ने सरियों और घातक हथियारों से हमला किया। लेकिन गुंडों के हमले के बावजूद महिलाओं की एकजुटता बरकरार रही और अंततः ठेकेदार और उसके गुंडों को हार माननी पड़ी। फिर महिलाओं ने तीन जीप ताड़ी को फेंक दिया।

(29 अक्टूबर, 1992 को इनाडु में छपी खबर पर आधारित)

साधार: जुबान



ताड़ी-विरोधी आंदोलन

जब बीकेयू उत्तर में किसानों को लामबंद कर रहा था उसी समय एक अलग तरह का आंदोलन दक्षिणी राज्य आंध्र प्रदेश में आकार ले रहा था। यह महिलाओं का एक स्वतःस्फूर्त आंदोलन था। ये महिलाएँ अपने आस-पड़ोस में मदिरा की बिक्री पर पाबंदी की माँग कर रही थीं।

वर्ष 1992 के सितंबर और अक्टूबर माह में इस तरह की खबरें तेलुगु प्रेस में लगभग रोज़ दिखती थी। गाँव का नाम बदल जाता पर खबर वैसी ही होती। ग्रामीण महिलाओं ने शराब के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ रखी थी। यह लड़ाई माफ़िया और सरकार दोनों के खिलाफ़ थी। इस आंदोलन ने ऐसा रूप धारण किया कि इसे राज्य में ताड़ी-विरोधी आंदोलन के रूप में जाना गया।

हमें इस तरह की अच्छी-अच्छी कहानियाँ तो सुनाई जाती हैं लेकिन हमें कभी यह नहीं बताया जाता कि इन कहानियों का अंत कैसा रहा। क्या यह आंदोलन शराबबंदी में सफल हो पाया? या पुरुषों ने एक समय के बाद फिर पीना शुरू कर दिया?



साधार: जुबान

उदय

आंध्र प्रदेश के नेल्लोर ज़िले के एक दूर-दराज के गाँव दुब्रगंटा में 1990 के शुरुआती दौर में महिलाओं के बीच प्रौढ़-साक्षरता कार्यक्रम चलाया गया जिसमें महिलाओं ने बड़ी संख्या में पंजीकरण कराया। कक्षाओं में महिलाएँ घर के पुरुषों द्वारा देशी शराब, ताड़ी आदि पीने की शिकायतें करती थीं। ग्रामीणों को शराब की गहरी लत लग चुकी थी। इसके चलते वे शारीरिक और मानसिक रूप से भी कमजोर हो गए थे। शराबखोरी से क्षेत्र की ग्रामीण अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हो रही थी। शराबखोरी के बढ़ने से कर्ज का बोझ बढ़ा। पुरुष अपने काम से लगातार गैर-हाज़िर रहने लगे। शराब के ठेकेदार मदिरा व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए अपराधों में व्यस्त थे। शराबखोरी से सबसे ज़्यादा दिक्कत महिलाओं को हो रही थी। इससे परिवार की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। परिवार में तनाव और मारपीट का माहौल बनने लगा।

साभार: द हिंदू



हैदराबाद (1992) : ताड़ी की बिक्री के विरोध में महिलाओं का विरोध प्रदर्शन।

नेल्लोर में महिलाएँ ताड़ी की बिक्री के खिलाफ़ आगे आईं और उन्होंने शराब की दुकानों को बंद कराने के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। यह खबर तेज़ी से फैली और करीब 5000 गाँवों की महिलाओं ने आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। प्रतिबंध संबंधी एक प्रस्ताव को पास कर इसे ज़िला कलेक्टर को भेजा गया। नेल्लोर ज़िले में ताड़ी की नीलामी 17 बार रद्द हुई। नेल्लोर ज़िले का यह आंदोलन धीरे-धीरे पूरे राज्य में फैल गया।

आंदोलन की कड़ियाँ

ताड़ी-विरोधी आंदोलन का नारा बहुत साधारण था—‘ताड़ी की बिक्री बंद करो!’

लेकिन इस साधारण नारे ने क्षेत्र के व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों तथा महिलाओं के जीवन को गहरे प्रभावित किया। ताड़ी व्यवसाय को लेकर अपराध एवं राजनीति के बीच एक गहरा नाता बन गया था। राज्य सरकार को ताड़ी की बिक्री से काफ़ी राजस्व की प्राप्ति होती थी इसलिए वह इस पर प्रतिबंध नहीं लगा रही थी। स्थानीय महिलाओं के समूहों ने इस जटिल मुद्दे को अपने आंदोलन में उठाना शुरू किया। वे घरेलू हिंसा के मुद्दे पर भी खुले तौर पर चर्चा करने लगीं। आंदोलन ने पहली बार महिलाओं को घरेलू हिंसा जैसे निजी मुद्दों पर बोलने का मौका दिया।

इस तरह ताड़ी-विरोधी आंदोलन महिला आंदोलन का एक हिस्सा बन गया। इससे पहले घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, कार्यस्थल एवं सार्वजनिक स्थानों पर यौन-उत्पीड़न के खिलाफ़ काम करने वाले महिला समूह आमतौर पर शहरी मध्यवर्गीय महिलाओं के बीच ही सक्रिय थे और यह बात पूरे देश पर लागू होती थी। महिला समूहों के सतत प्रयास से यह समझदारी विकसित होनी शुरू हुई कि औरतों पर होने वाले अत्याचार और लैंगिक भेदभाव का मामला ख़ासा जटिल है। आठवें दशक के दौरान महिला आंदोलन परिवार के अंदर और उसके बाहर होने वाली यौन हिंसा के मुद्दों पर केंद्रित रहा। इन समूहों ने दहेज प्रथा के खिलाफ़ मुहिम

चलाई और लैंगिक समानता के सिद्धांत पर आधारित व्यक्तिगत एवं संपत्ति कानूनों की माँग की।

इस तरह के अभियानों ने महिलाओं के मुद्दों के प्रति समाज में व्यापक जागरूकता पैदा की। धीरे-धीरे महिला आंदोलन कानूनी सुधारों से हटकर सामाजिक टकराव के मुद्दों पर भी खुले तौर पर बात करने लगा। ऊपर हमने एक ऐसे ही विषय पर बात की हैं। नवें दशक तक आते-आते महिला आंदोलन समान राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात करने लगा था। आपको ज्ञात ही होगा कि संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के अंतर्गत महिलाओं को स्थानीय राजनीतिक निकायों में आरक्षण दिया गया है। इस व्यवस्था को राज्यों की विधानसभाओं तथा संसद में भी लागू करने की माँग की जा रही है। संसद में इस आशय का एक संशोधन विधेयक भी पेश किया जा चुका है। परंतु विधेयक को अभी तक जरूरी समर्थन हासिल नहीं हो पाया है। कुछ गुट जिनमें महिला समूह भी शामिल हैं, प्रस्तुत विधेयक के अंतर्गत दलित और पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए अलग से आरक्षण की माँग कर रहे हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

वे सभी सामाजिक आंदोलन जिनके बारे में हमने अभी तक चर्चा की है, देश में आज़ादी के बाद अपनाए गए आर्थिक विकास के मॉडल पर सवालिया निशान

साभार: इंडिया टुडे



दहेज विरोधी अधिनियम के पक्ष में महिलाओं का प्रदर्शन

सिने-संसार

आक्रोश



भास्कर कुलकर्णी नाम के एक वकील को भीकू लहनिया का मुकदमा लड़ने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। आदिवासी भीकू पर अपनी पत्नी की हत्या का आरोप लगाया गया है। भीकू का वकील हत्या के कारणों की तह में जाना चा. हता है लेकिन भीकू और उसका परिवार इस मामले में चुप्पी साधे रखते हैं। कुछ समय के बाद वकील पर हमला हो जाता है। इसके बाद एक सामाजिक कार्यकर्ता, भास्कर को हत्या के समूचे प्रकरण के बारे में जानकारी देता है।

लेकिन इसके बाद यह सामाजिक कार्यकर्ता गायब हो जाता है और भीकू के पिता की मृत्यु हो जाती है। भीकू को अपने पिता के दाह संस्कार में शामिल होने की अनुमति दी जाती है। यह वह बिंदु है जहाँ भीकू की चुप्पी टूट जाती है। प्रस्तुत फ़िल्म दलित वर्ग की अमानवीय जीवन परिस्थितियों का मुआयना कराती है और इस तथ्य को बहुत स्पष्टता के साथ सामने लाती है कि वर्चस्वशाली ताकतों का विरोध करना कितना मुश्किल होता है।

वर्ष : 1980

निर्देशक : गोविंद निहलानी

कहानी : विजय तेंदुलकर

पटकथा : सत्यदेव दुबे

अभिनय : नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, स्मिता

पाटिल, नाना पाटेकर, महेश एलकुंचवार

लगाते रहे हैं। एक ओर जहाँ चिपको आंदोलन ने इस मॉडल में निहित पर्यावरणीय विनाश के मुद्दे को सामने रखा, वहीं दूसरी ओर, किसानों ने कृषि क्षेत्र की अनदेखी पर रोष प्रकट किया। इसी तरह जहाँ दलित समुदायों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें जन-संघर्षों की ओर ले गईं वहीं ताड़ी-बंदी आंदोलन ने विकास के नकारात्मक पहलुओं की ओर इशारा किया।

सरदार सरोवर परियोजना

आठवें दशक के प्रारंभ में भारत के मध्य भाग में स्थित नर्मदा घाटी में विकास परियोजना के तहत मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र से गुजरने वाली नर्मदा और उसकी सहायक नदियों पर 30 बड़े, 135 मझोले तथा 300 छोटे बाँध बनाने का प्रस्ताव रखा गया। गुजरात के सरदार सरोवर और मध्य प्रदेश के नर्मदा सागर बाँध के रूप में दो सबसे बड़ी और बहु-उद्देश्यीय परियोजनाओं का निर्धारण किया गया। नर्मदा नदी के बचाव में नर्मदा बचाओ आंदोलन चला। इस आंदोलन ने बाँधों के निर्माण का विरोध किया। नर्मदा बचाओ आंदोलन इन बाँधों के निर्माण के साथ-साथ देश में चल रही विकास परियोजनाओं के औचित्य पर भी सवाल उठाता रहा है।

सरदार सरोवर परियोजना के अंतर्गत एक बहु-उद्देश्यीय विशाल बाँध बनाने का प्रस्ताव है। बाँध समर्थकों का कहना है कि इसके निर्माण से गुजरात के एक बहुत बड़े हिस्से सहित तीन पड़ोसी राज्यों में पीने के पानी, सिंचाई और बिजली के उत्पादन की सुविधा मुहैया कराई जा सकेगी तथा कृषि की उपज में गुणात्मक बढ़ोतरी होगी।

बाँध की उपयोगिता इस बात से भी जोड़कर देखी जा रही थी कि इससे बाढ़ और सूखे की आपदाओं पर अंकुश लगाया जा सकेगा। प्रस्तावित बाँध के निर्माण से संबंधित राज्यों के 245 गाँव डूब के क्षेत्र में आ रहे थे। अतः प्रभावित गाँवों के करीब ढाई लाख लोगों के पुनर्वास का मुद्दा सबसे पहले स्थानीय कार्यकर्ताओं ने उठाया। इन गतिविधियों को एक आंदोलन की शक्ल 1988-89 के दौरान मिली जब कई स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों ने खुद को नर्मदा बचाओ आंदोलन के रूप में गठित किया।

वाद-विवाद और संघर्ष

नर्मदा आंदोलन अपने गठन की शुरुआत से ही सरदार सरोवर परियोजना को विकास परियोजनाओं के बृहत्तर मुद्दों से जोड़कर देखता रहा है। यह आंदोलन विकास के मॉडल और उसके सार्वजनिक औचित्य पर सवाल उठाता रहा है। आंदोलन की एक मुख्य दलील यह रही है कि अब तक की सभी विकास परियोजनाओं पर हुए खर्च का विश्लेषण किया जाए। आंदोलन के अनुसार परियोजनाओं के लागत विश्लेषण में इस बात का जायजा भी लिया जाना चाहिए कि समाज के विभिन्न वर्गों को इन परियोजनाओं का क्या खामियाजा भुगतना पड़ा है!



साभार: डिजाइन एंड पी पल

नर्मदा बचाओ आंदोलन के समर्थन में जारी किया गया एक पोस्टर



आंदोलन के नेतृत्व ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि इन परियोजनाओं का लोगों के पर्यावास, आजीविका, संस्कृति तथा पर्यावरण पर बुरा असर पड़ा है।

शुरुआत में आंदोलन ने यह माँग रखी कि परियोजना से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित सभी लोगों का समुचित पुनर्वास किया जाए। आंदोलन के लोगों ने

इन महाकाय विकास परियोजनाओं के निर्माण की

प्रक्रिया पर भी सवाल उठाए। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने इस बात पर जोर दिया कि ऐसी परियोजनाओं की निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों की भागीदारी होनी चाहिए और जल, जंगल, ज़मीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर उनका प्रभावी नियंत्रण होना चाहिए। आंदोलन ने एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी उठाया कि लोकतंत्र में कुछ लोगों के लाभ के लिए अन्य लोगों को नुकसान क्यों उठाना चाहिए? इस तरह के सवालों से जूझते हुए आंदोलन ने अंततः पुनर्वास की माँग से आगे कदम बढ़ाया। अब आंदोलन बड़े बाँधों की खुली मुखालफ़त करता है।

नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ताओं का गुजरात जैसे राज्यों में तीव्र विरोध हुआ है। परंतु अब सरकार और न्यायपालिका दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि लोगों को पुनर्वास मिलना चाहिए। सरकार द्वारा 2003 में स्वीकृत राष्ट्रीय पुनर्वास नीति को नर्मदा बचाओ जैसे सामाजिक आंदोलन की उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। परंतु सफलता के साथ ही नर्मदा बचाओ आंदोलन को बाँध के निर्माण पर रोक लगाने की माँग उठाने पर तीखा विरोध भी झेलना पड़ा है। आलोचकों का कहना है कि आंदोलन का अड़ियल रवैया विकास की प्रक्रिया, पानी की उपलब्धता और आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा है। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में सरकार को बाँध का काम आगे बढ़ाने की हिदायत दी है लेकिन साथ ही उसे यह आदेश भी दिया गया है कि प्रभावित लोगों का पुनर्वास सही ढंग से किया जाए। नर्मदा बचाओ

विकास

परियोजनाओं

के कारण कभी ध

नवानों की कॉलोनी या

शहर को गिराया गया हो—

ऐसा सुनने में नहीं आया।

हमेशा आदिवासियों और गरीबों

को ही अपना घर छोड़ने के

लिए मजबूर होना पड़ता

है ऐसा क्यों?



(ऊपर) नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ता जलसमाधि लेते हुए (2002)।

(नीचे) नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा आयोजित एक नाव रैली।



आंदोलन दो से भी ज्यादा दशकों तक चला। आंदोलन ने अपनी माँग मुखर करने के लिए हरसंभव लोकतांत्रिक रणनीति का इस्तेमाल किया। आंदोलन ने अपनी बात न्यायपालिका से लेकर अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक से उठाई। आंदोलन की समझ को जनता के सामने मुखर करने के लिए नेतृत्व ने सार्वजनिक रैलियों तथा सत्याग्रह जैसे तरीकों का भी प्रयोग किया परंतु विपक्षी दलों सहित मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के बीच आंदोलन कोई खास जगह नहीं बना पाया। वास्तव में, नर्मदा आंदोलन की विकास रेखा भारतीय राजनीति में सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक दलों के बीच निरंतर बढ़ती दूरी को बयान करती है। उल्लेखनीय है कि नवें दशक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते नर्मदा बचाओ आंदोलन से कई अन्य स्थानीय समूह और आंदोलन भी आ जुड़े। ये सभी आंदोलन अपने-अपने क्षेत्रों में विकास की बृहत् परियोजनाओं का विरोध करते थे। इस मुकाम तक आते-आते नर्मदा बचाओ आंदोलन देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे समधर्मा आंदोलनों के गठबंधन का अंग बन गया।

जन आंदोलन के सबक

जन आंदोलनों का इतिहास हमें लोकतांत्रिक राजनीति को बेहतर ढंग से समझने में मदद देता है। हमने देखा कि इस तरह के गैर-दलीय आंदोलन अनियमित ढंग से खड़े नहीं हो जाते। उन्हें समस्या के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। इन आंदोलनों का उद्देश्य दलीय राजनीति की खामियों को दूर करना था। इस रूप में, इन आंदोलनों को देश की लोकतांत्रिक राजनीति के अहम हिस्से के तौर पर देखा जाना चाहिए। सामाजिक आंदोलनों ने समाज के उन नए वर्गों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को अभिव्यक्ति दी जो अपनी दिक्कतों को चुनावी राजनीति के जरिए हल नहीं कर पा रहे थे। विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए ये आंदोलन अपनी बात रखने का बेहतर माध्यम बनकर उभरे। समाज के गहरे तनावों और जनता के क्षोभ को एक सार्थक दिशा देकर इन आंदोलनों ने एक तरह से लोकतंत्र की रक्षा की है। सक्रिय भागीदारी के नए रूपों के प्रयोग ने भारतीय लोकतंत्र के जनाधार को बढ़ाया है।



क्या आंदोलनों को राजनीति की प्रयोगशाला कहा जा सकता है? आंदोलनों के दौरान नए प्रयोग किए जाते हैं और सफल प्रयोगों को राजनीतिक दल अपना लेते हैं।

इन आंदोलनों के आलोचक अकसर यह दलील देते हैं कि हड़ताल, धरना और रैली जैसी सामूहिक कार्रवाईयों से सरकार के कामकाज पर बुरा असर पड़ता है। उनके अनुसार इस तरह की गतिविधियों से सरकार की निर्णय-प्रक्रिया बाधित होती है तथा रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक व्यवस्था भंग होती है। इस तरह की दलीलें एक और गहरे सवाल को जन्म देती हैं और वह सवाल यह है कि जन आंदोलन ऐसी मुखर सामूहिक गतिविधियों का सहारा क्यों लेते हैं? इस अध्याय में हमने देखा कि ये जन आंदोलन जनता की जायज़ माँगों के नुमाइंदा बनकर उभरे हैं और उन्होंने नागरिकों के एक बड़े समूह को अपने साथ जोड़ने में कामयाबी हासिल की है।

हमें यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन जन आंदोलनों द्वारा लामबंद की जाने वाली जनता सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित तथा अधिकारहीन वर्गों से संबंध रखती है। जन आंदोलनों द्वारा अपनाए गए तौर-तरीकों से जाहिर होता है कि रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में इन वंचित समूहों को अपनी बात कहने का पर्याप्त मौका नहीं मिलता था। इसी कारण ये समूह चुनावी शासन-भूमि से अलग जन-कार्रवाई और लामबंदी की रणनीति अपनाते हैं।



सूचना के अधिकार का आंदोलन

सूचना के अधिकार का आंदोलन जन आंदोलनों की सफलता का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। यह आंदोलन सरकार से एक बड़ी माँग को पूरा कराने में सफल रहा है। इस आंदोलन की शुरुआत

साभार: पंकज पुष्कर



‘घोटेला रथयात्रा’ मजदूर किसान शक्ति संगठन द्वारा विकसित लोकनाटक का एक रूप।

1990 में हुई और इसका नेतृत्व किया मजदूर किसान शक्ति संगठन (एमकेएसएस) ने। राजस्थान में काम कर रहे इस संगठन ने सरकार के सामने यह माँग रखी कि अकाल राहत कार्य और मजदूरों को दी जाने वाली पगार के रिकॉर्ड का सार्वजनिक खुलासा किया जाए। यह माँग राजस्थान के एक बेहद पिछड़े इलाके—भीम तहसील में सबसे पहले उठाई गई थी। इस मुहिम के तहत ग्रामीणों ने प्रशासन से अपने वेतन और भुगतान के बिल उपलब्ध कराने को कहा। दरअसल, इन लोगों को लग रहा था कि स्कूलों, डिस्पेंसरी, छोटे बाँधों तथा सामुदायिक केंद्रों के निर्माण कार्य के दौरान उन्हें दी गई मजदूरी में भारी घपला हुआ है। कहने के लिए ये विकास परियोजनाएँ पूरी हो गई थीं लेकिन लोगों का मानना था कि सारे काम में धन की हेराफेरी हुई है। पहले 1994 और उसके बाद 1996 में मजदूर किसान शक्ति संगठन ने जन-सुनवाई का आयोजन किया और प्रशासन को इस मामले में अपना पक्ष स्पष्ट करने को कहा।

आंदोलन के दबाव में सरकार को राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में संशोधन करना पड़ा। नए कानून के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति मिल गई। संशोधन के बाद पंचायतों के लिए बजट, लेखा, खर्च, नीतियों और

लाभार्थियों के बारे में सार्वजनिक घोषणा करना अनिवार्य कर दिया गया। अब पंचायतों को इन मदों के बारे में नोटिस बोर्ड या अखबारों में सूचना देनी होती है। 1996 में एमकेएसएस ने दिल्ली में सूचना के अधिकार को लेकर राष्ट्रीय समिति का गठन किया। इस कार्यवाई का लक्ष्य सूचना के अधिकार को राष्ट्रीय अभियान का रूप देना था। इससे पहले, कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सेंटर (उपभोक्ता शिक्षा एवं अनुसंधान केंद्र), प्रेस काउंसिल तथा शौरी समिति ने सूचना के अधिकार का एक मसौदा तैयार किया था। 2002 में ‘सूचना की स्वतंत्रता’ नाम का एक विधेयक पारित हुआ था। यह एक कमजोर अधिनियम था और इसे अमल में नहीं लाया गया। सन् 2004 में सूचना के अधिकार के विधेयक को सदन में रखा गया। जून 2005 में विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी हासिल हुई।



साभार: सुधीर तैलंग / शून्यडीपी एवं योजना आयोग

पिछले 25 वर्षों के दौरान आपके शहर या जिले में कौन-सा आंदोलन सक्रिय रहा है? आंदोलन के बारे में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें।

- आंदोलन कब शुरू हुआ, वह कब तक सक्रिय रहा?
- आंदोलन के प्रमुख नेताओं के नाम बताएँ? इस आंदोलन को किन सामाजिक समूहों का समर्थन प्राप्त था?
- आंदोलन के खास मुद्दे और मुख्य मांगे क्या थीं?
- क्या यह आंदोलन सफल हुआ? आपके क्षेत्र में इस आंदोलन का दूरगामी प्रभाव क्या हुआ?

यह बात हाल की नयी आर्थिक नीतियों के मामले में देखी जा सकती है। आप नौवें अध्याय में पढ़ेंगे कि कमोबेश सभी राजनीतिक दल इन नीतियों को लागू करने के पक्ष में हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हाशिए पर मौजूद जिन सामाजिक समूहों पर आर्थिक नीतियों का दुष्प्रभाव पड़ सकता है उन पर ये राजनीतिक दल खास ध्यान नहीं देंगे और न ही मुख्यधारा की मीडिया उन पर ध्यान देगी। ऐसे में नयी आर्थिक नीतियों का विरोध करना हो तो जन-कार्रवाई का ही रास्ता बचता है। जन आंदोलन यही काम करते हैं। वे राजनीतिक दलों के चालू मुहावरे से अलग अपने मुद्दे उठाते हैं।

आंदोलन का मतलब सिर्फ धरना-प्रदर्शन या सामूहिक कार्रवाई नहीं होता। इसके अंतर्गत किसी समस्या से पीड़ित लोगों का धीरे-धीरे एकजुट होना और समान अपेक्षाओं के साथ एक-सी माँग उठाना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, आंदोलन का एक काम लोगों को अपने अधिकारों को लेकर जागरूक बनाना भी है ताकि लोग यह समझें कि लोकतंत्र की संस्थाओं से वे क्या-क्या उम्मीद कर सकते हैं। भारत के सामाजिक आंदोलन बहुत दिनों से जनता को जागरूक बनाने के इस काम में संलग्न हैं। ऐसे में इन आंदोलनों ने लोकतंत्र को बाधा नहीं पहुँचायी बल्कि उसका विस्तार किया है।

किंतु कुल मिलाकर सार्वजनिक नीतियों पर इन आंदोलनों का असर काफ़ी सीमित रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि समकालीन सामाजिक आंदोलन किसी एक मुद्दे के इर्द-गिर्द ही जनता को लामबंद करते हैं। इस तरह वे समाज के किसी एक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। इसी सीमा के चलते सरकार इन आंदोलनों की जायज़ माँगों को ठुकराने का साहस कर पाती है। लोकतांत्रिक राजनीति वंचित वर्गों के व्यापक गठबंधन को लेकर ही चलती है जबकि जन आंदोलनों के नेतृत्व में यह बात संभव नहीं हो पाती। राजनीतिक दलों को जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य बैठाना पड़ता है, जबकि जन आंदोलनों का नेतृत्व इस वर्गीय हित के प्रश्न को कायदे से नहीं सँभाल पाता। जान पड़ता है कि राजनीतिक दलों ने समाज के वंचित और अधिकारहीन लोगों के मुद्दों पर ध्यान देना छोड़ दिया है। पर जन आंदोलन का नेतृत्व भी ऐसे मुद्दों को सीमित ढंग से ही उठा पाता है। विगत वर्षों में राजनीतिक दलों और जन आंदोलनों का आपसी संबंध कमजोर होता गया है। इससे राजनीति में एक सूनेपन का माहौल पनपा है। हाल के वर्षों में, भारत की राजनीति में यह एक बड़ी समस्या के रूप में उभरा है।

प्रश्नावली

- चिपको आंदोलन के बारे में निम्नलिखित में कौन-कौन से कथन गलत हैं:
 - (क) यह पेड़ों की कटाई को रोकने के लिए चला एक पर्यावरण आंदोलन था।
 - (ख) इस आंदोलन ने पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के मामले उठाए।
 - (ग) यह महिलाओं द्वारा शुरू किया गया शराब-विरोधी आंदोलन था।
 - (घ) इस आंदोलन की माँग थी कि स्थानीय निवासियों का अपने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण होना चाहिए।
- नीचे लिखे कुछ कथन गलत हैं। इनकी पहचान करें और ज़रूरी सुधार के साथ उन्हें दुरुस्त करके दोबारा लिखें:
 - (क) सामाजिक आंदोलन भारत के लोकतंत्र को हानि पहुँचा रहे हैं।
 - (ख) सामाजिक आंदोलनों की मुख्य ताकत विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच व्याप्त उनका जनाधार है।
 - (ग) भारत के राजनीतिक दलों ने कई मुद्दों को नहीं उठाया। इसी कारण सामाजिक आंदोलनों का उदय हुआ।
- उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में (अब उत्तराखंड) 1970 के दशक में किन कारणों से चिपको आंदोलन का जन्म हुआ? इस आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?
- भारतीय किसान यूनियन किसानों की दुर्दशा की तरफ ध्यान आकर्षित करने वाला अग्रणी संगठन है। नब्बे के दशक में इसने किन मुद्दों को उठाया और इसे कहाँ तक सफलता मिली?
- आंध्र प्रदेश में चले शराब-विरोधी आंदोलन ने देश का ध्यान कुछ गंभीर मुद्दों की तरफ खींचा। ये मुद्दे क्या थे?
- क्या आप शराब-विरोधी आंदोलन को महिला-आंदोलन का दर्जा देंगे? कारण बताएँ।
- नर्मदा बचाओ आंदोलन ने नर्मदा घाटी की बाँध परियोजनाओं का विरोध क्यों किया?
- क्या आंदोलन और विरोध की कार्यवाहियों से देश का लोकतंत्र मज़बूत होता है? अपने उत्तर की पुष्टि में उदाहरण दीजिए।
- दलित-पैंथर्स ने कौन-से मुद्दे उठाए?

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

...लगभग सभी नए सामाजिक आंदोलन नयी समस्याओं जैसे-पर्यावरण का विनाश, महिलाओं की बदहाली, आदिवासी संस्कृति का नाश और मानवाधिकारों का उल्लंघन... के समाधान को रेखांकित करते हुए उभरे। इनमें से कोई भी अपनेआप में समाजव्यवस्था के मूलगामी बदलाव के सवाल से नहीं जुड़ा था। इस अर्थ में ये आंदोलन अतीत की क्रांतिकारी विचारधाराओं से एकदम अलग हैं। लेकिन, ये आंदोलन बड़ी बुरी तरह बिखरे हुए हैं और यही इनकी कमजोरी है... सामाजिक आंदोलनों का एक बड़ा दायरा ऐसी चीजों की चपेट में है कि वह एक ठोस तथा एकजुट जन आंदोलन का रूप नहीं ले पाता और न ही वंचितों और गरीबों के लिए प्रासंगिक हो पाता है। ये आंदोलन बिखरे-बिखरे हैं, प्रतिक्रिया के तत्त्वों से भरे हैं, अनियत हैं और बुनियादी सामाजिक बदलाव के लिए इनके पास कोई फ्रेमवर्क नहीं है। 'इस' या 'उस' के विरोध (पश्चिम-विरोधी, पूँजीवाद विरोधी, 'विकास'-विरोधी, आदि) में चलने के कारण इनमें कोई संगति आती हो अथवा दबे-कुचले लोगों और हाशिए के समुदायों के लिए ये प्रासंगिक हो पाते हों-ऐसी बात नहीं।

-रजनी कोठारी

- (क) नए सामाजिक आंदोलन और क्रांतिकारी विचारधाराओं में क्या अंतर है?
- (ख) लेखक के अनुसार सामाजिक आंदोलनों की सीमाएँ क्या-क्या हैं?
- (ग) यदि सामाजिक आंदोलन विशिष्ट मुद्दों को उठाते हैं तो आप उन्हें 'बिखरा' हुआ कहेंगे या मानेंगे कि वे अपने मुद्दे पर कहीं ज़्यादा केंद्रित हैं। अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दीजिए।

खुद करें-खुद सीखें

एक हफ्ते के अखबार की खबरों पर नज़र दौड़ाएँ और ऐसी तीन रिपोर्टों को चुनें जिन्हें आप जन आंदोलन से जुड़ी खबर मानते हों। इन आंदोलनों की मुख्य माँगों का पता करें। पता लगाएँ कि अपनी माँगों की स्वीकृति के लिए इन आंदोलनों ने क्या तरीका अपनाया है और राजनीतिक दलों की इस पर क्या प्रतिक्रिया है?

हमें हर भारतवासी का सहयोग चाहिये
अन्याय-शोषण व दमन के खिलाफ
उत्तराखण्ड राज्य के निर्माण के लिए ।

आझाद प्रजातन्त्र आ आजादीवास्तविक
छात्र ॥ उद्देश्य ॥ राज्य निर्माण के लिए ।

आझादता सर्व भारतीय जनता का सहयोग चाहिये ।
उत्तराखण्ड राज्य का निर्माण साथी ।

ہمیں ہر ہندوستان کا اور ہندوستان کی فہمیر
بہتر اور تعاون چاہئے

2. கீழ்க்கண்ட விடயங்களைப் பற்றி உறுதியாக
இந்திய குடியரசுமே உதவ வேண்டும்

आझाद सपना हमारे सभी सपने
सब उभर रही है सपना सपना है ।

WE SEEK SUPPORT OF EVERY INDIAN AGAINST
INJUSTICE, EXPLOITATION AND OPPRESSION
FOR THE CREATION OF UTTARAKHAND STATE

उत्तराखण्ड संस्कृतिक मोर्चा द्वारा संचालित संघर्ष समिति (देहरादून)
के संस्थापक अध्यक्ष डा. अशोक कुमार

क्षेत्रीय आकांक्षाओं को अक्सर क्षेत्र विशेष की भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है और ये आकांक्षाएँ स्थानीय जनता या शासकों को संबोधित की जाती हैं।

यहाँ जो पोस्टर दिखाया गया है, उसे इस संदर्भ में विशेष कहा जाएगा कि उसमें सात भाषाओं का इस्तेमाल किया गया है। स्पष्ट है कि इन भाषाओं के इस्तेमाल का उद्देश्य तमाम भारतीय नागरिकों तक अपनी बात पहुँचाना है। पोस्टर से यह बात साफ जाहिर है कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं का राष्ट्रीय भावनाओं से कोई बुनियादी टकराव नहीं है।

इस अध्याय में...

आजादी के बाद के पहले दशक में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया चली। हमने इसके बारे में इस किताब के पहले अध्याय में पढ़ा था। लेकिन राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया एक ही बार में पूरी नहीं हो जाती। वक्त गुजरने के साथ नई चुनौतियाँ आईं। कुछ पुरानी समस्याएँ ऐसी थीं कि उनका समाधान पूरी तरह से न हो सका था। लोकतंत्र के रास्ते पर जैसे-जैसे हम बढ़े, वैसे-वैसे अलग-अलग इलाकों के लोगों में स्वायत्तता की भावना पैदा हुई। कभी-कभी स्वायत्तता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति भारत के संघीय ढाँचे के हदों को पार करके भी हुई। स्वायत्तता की ऐसी आकांक्षाओं ने कभी-कभार हिंसक रूप लिया और संघर्ष लंबा खिंचा। इन संघर्षों में लोगों ने आक्रामक तेवर अपनाए और बहुधा हथियार भी उठाए।

यह नई चुनौती 1980 के दशक में पूरी ताकत के साथ उभरी थी। इस वक्त तक जनता पार्टी के रूप में गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग अपनी अंतिम साँसें ले चुका था और केंद्र में थोड़ी-बहुत राजनीतिक स्थिरता की स्थिति थी। इस दशक को कुछ बड़े संघर्ष और समझौते के दशक के रूप में याद किया जाएगा। इस दशक में असम, पंजाब, मिजोरम और जम्मू-कश्मीर में क्षेत्रीय आकांक्षाओं ने सर उठाया और सरकार को बड़े जतन के साथ समझौते करने पड़े। इस अध्याय में हम इन्हीं मामलों के बारे में पढ़ेंगे ताकि इन सवालों को उठा सकें:

- क्षेत्रीय आकांक्षाओं और उनसे उपजे तनाव को किन कारणों से बल मिलता है?
- भारत सरकार ने ऐसी चुनौतियों और तनावों के प्रति क्या कदम उठाए?
- लोकतांत्रिक अधिकारों और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन साधने में किस किस्म की कठिनाइयाँ आती हैं?
- लोकतंत्र में विविधताओं के बीच एकता कायम करने के लिहाज से हमें क्या सीख मिलती है?

क्षेत्रीय आकांक्षाएँ



12122CH08

क्षेत्र और राष्ट्र

1980 के दशक को स्वायत्तता की माँग के दशक के रूप में भी देखा जा सकता है। इस दौर में देश के कई हिस्सों से स्वायत्तता की माँग उठी और इसने संवैधानिक हदों को भी पार किया। इन आंदोलनों में शामिल लोगों ने अपनी माँग के पक्ष में हथियार उठाए; सरकार ने उनको दबाने के लिए जवाबी कार्रवाई की और इस क्रम में राजनीतिक तथा चुनावी प्रक्रिया अवरुद्ध हुई। आश्चर्य नहीं कि स्वायत्तता की माँग को लेकर चले अधिकतर संघर्ष लंबे समय तक जारी रहे और इन संघर्षों पर विराम लगाने के लिए केंद्र सरकार को सुलह की बातचीत का रास्ता अख्तियार करना पड़ा अथवा स्वायत्तता के आंदोलन की अगुवाई कर रहे समूहों से समझौते करने पड़े। बातचीत की एक लंबी प्रक्रिया के बाद ही दोनों पक्षों के बीच समझौता हो सका। बातचीत का लक्ष्य यह रखा गया कि विवाद के मुद्दों को संविधान के दायरे में रहकर निपटा लिया जाए। बहरहाल, समझौते तक पहुँचने की यह यात्रा बड़ी दुर्गम रही और इसमें जब-तब हिंसा के स्वर उभरे।

भारत सरकार का नज़रिया

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया और भारत के संविधान के बारे में पढ़ते हुए विविधता के एक बुनियादी सिद्धांत की चर्चा हमारी नज़रों से बार-बार गुज़री है : भारत में विभिन्न क्षेत्र और भाषायी समूहों को अपनी संस्कृति बनाए रखने का अधिकार होगा। हमने एकता की भावधारा से बँधे एक ऐसे सामाजिक जीवन के निर्माण का निर्णय लिया था, जिसमें इस समाज को आकार देने वाली तमाम संस्कृतियों की विशिष्टता बनी रहे। भारतीय राष्ट्रवाद ने एकता और विविधता के बीच संतुलन साधने की कोशिश की है। राष्ट्र का मतलब यह नहीं है कि क्षेत्र को नकार दिया जाए। इस अर्थ में भारत का नज़रिया यूरोप के कई देशों से अलग रहा, जहाँ सांस्कृतिक विभिन्नता को राष्ट्र की एकता के लिए खतरे के रूप में देखा गया।

भारत ने विविधता के सवाल पर लोकतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाया। लोकतंत्र में क्षेत्रीय आकांक्षाओं की राजनीतिक अभिव्यक्ति की अनुमति है और लोकतंत्र क्षेत्रीयता को राष्ट्र-विरोधी नहीं मानता। इसके अतिरिक्त लोकतांत्रिक राजनीति में इस बात के पूरे अवसर होते हैं कि विभिन्न दल और समूह क्षेत्रीय पहचान, आकांक्षा अथवा किसी खास क्षेत्रीय समस्या को आधार बनाकर लोगों की भावनाओं की नुमाइंदगी करें। इस तरह लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ और बलवती होती हैं। साथ ही लोकतांत्रिक राजनीति का एक अर्थ यह भी है कि क्षेत्रीय मुद्दों और समस्याओं पर नीति-निर्माण की प्रक्रिया में समुचित ध्यान दिया जाएगा और उन्हें इसमें भागीदारी दी जाएगी।

क्या
इसका मतलब
यह हुआ कि
क्षेत्रवाद सांप्रदायिकता
के समान खतरनाक नहीं
है? क्या हम यह भी कह
सकते हैं कि क्षेत्रवाद
अपने आप में
खतरनाक नहीं?



ऐसी व्यवस्था में कभी-कभी तनाव या परेशानियाँ खड़ी हो सकती हैं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि राष्ट्रीय एकता के सरोकार क्षेत्रीय आकांक्षाओं और जरूरतों पर भारी पड़ें। कभी ऐसा भी हो सकता है कि कोई क्षेत्रीय सरोकारों के कारण राष्ट्र की वृहत्तर आवश्यकताओं से आँखें मूँद लें। जो राष्ट्र चाहते हैं कि विविधताओं का सम्मान हो साथ ही राष्ट्र की एकता भी बनी रहे, वहाँ क्षेत्रों की ताकत, उनके अधिकार और अलग अस्तित्व के मामले पर राजनीतिक संघर्ष का होना एक आम बात है।

तनाव के दायरे

आपने पहले अध्याय में पढ़ा था कि आज़ादी के तुरंत बाद हमारे देश को विभाजन, विस्थापन, देसी रियासतों के विलय और राज्यों के पुनर्गठन जैसे कठिन मसलों से जूझना पड़ा। देश और विदेश के अनेक पर्यवेक्षकों का अनुमान था कि भारत एकीकृत राष्ट्र के रूप में ज़्यादा दिनों तक टिक नहीं पाएगा। आज़ादी के तुरंत बाद जम्मू-कश्मीर का मसला सामने आया। यह सिर्फ़ भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष का मामला नहीं था। कश्मीर घाटी के लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं का सवाल भी इससे जुड़ा हुआ था। ठीक इसी तरह पूर्वोत्तर के कुछ भागों में भारत का अंग होने के मसले पर सहमति नहीं थी। पहले नगालैंड में और फिर मिजोरम में भारत से अलग होने की माँग करते हुए जोरदार आंदोलन चले। दक्षिण भारत में भी द्रविड़ आंदोलन से जुड़े कुछ समूहों ने एक समय अलग राष्ट्र की बात उठायी थी।

अलगाव के इन आंदोलनों के अतिरिक्त देश में भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की माँग करते हुए जन आंदोलन चले। मौजूदा आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात ऐसे ही आंदोलनों वाले राज्य हैं। दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों - खासकर तमिलनाडु में हिंदी को राजभाषा बनाने के खिलाफ़ विरोध-आंदोलन चला। 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध से पंजाबी-भाषी लोगों ने अपने लिए एक अलग राज्य बनाने की आवाज़ उठानी शुरू कर दी। उनकी माँग आखिरकार मान ली गई और 1966 में पंजाब और हरियाणा नाम से राज्य बनाए गए। बाद में छत्तीसगढ़, उत्तराखंड और झारखंड का गठन हुआ। कहा जा सकता है कि विविधता की चुनौती से निपटने के लिए देश की अंदरूनी सीमा रेखाओं का पुनर्निर्धारण किया गया।

बहरहाल, इन प्रयासों का मतलब यह नहीं था कि हर परेशानी का हमेशा के लिए हल निकल आया। कश्मीर और नगालैंड जैसे कुछ क्षेत्रों में चुनौतियाँ इतनी विकट और जटिल थीं कि राष्ट्र-निर्माण के पहले दौर में इनका समाधान नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त पंजाब, असम और मिजोरम में नई चुनौतियाँ उभरीं। आइए, हम इन मामलों पर तनिक विस्तार से बात करें और इसके साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण के क्रम में पेश आई कुछ पुरानी कठिनाइयों और उनके उदाहरणों को याद करने की कोशिश करें। ऐसे मामलों में मिली सफलता या विफलता सिर्फ़ अतीत के अध्ययन के लिए एक जरूरी प्रस्थान-बिंदु नहीं बल्कि भारत के भविष्य को समझने के लिए भी एक जरूरी सबक है।

खतरे
की बात
हमेशा सीमांत के
राज्यों के संदर्भ में ही
क्यों उठाई जाती है? क्या
इस सबके पीछे विदेशी
हाथ ही होता है?



जम्मू एवं कश्मीर

आपने जम्मू एवं कश्मीर में जारी हिंसा के बारे में सुना होगा। इसके परिणामस्वरूप अनेक लोगों की जान गई और कई परिवारों का विस्थापन हुआ। 'कश्मीर मुद्दा' भारत और पाकिस्तान के बीच एक बड़ा मुद्दा रहा है। लेकिन इस राज्य की राजनीतिक स्थिति के बहुत से आयाम हैं।

जम्मू एवं कश्मीर में तीन राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र शामिल हैं - जम्मू, कश्मीर और लद्दाख। कश्मीर घाटी को कश्मीर के दिल के रूप में देखा जाता है। कश्मीरी बोली बोलने वाले ज्यादातर लोग मुस्लिम हैं। बहरहाल, कश्मीरी-भाषी लोगों में अल्पसंख्यक हिंदू भी शामिल हैं। जम्मू क्षेत्र पहाड़ी तलहटी एवं मैदानी इलाके का मिश्रण है जहाँ हिंदू, मुस्लिम और सिख यानी कई धर्म और भाषाओं के लोग रहते हैं। लद्दाख पर्वतीय इलाका है, जहाँ बौद्ध एवं मुस्लिमों की आबादी है, लेकिन यह आबादी बहुत कम है।

'कश्मीर मुद्दा' भारत और पाकिस्तान के बीच सिर्फ विवाद भर नहीं है। इस मुद्दे के कुछ बाहरी तो कुछ भीतरी पहलू हैं। इसमें कश्मीरी पहचान का सवाल जिसे कश्मीरियत के रूप में जाना जाता है, शामिल है। इसके साथ ही साथ जम्मू-कश्मीर की राजनीतिक स्वायत्तता का मसला भी इसी से जुड़ा हुआ है।

समस्या की जड़ें

1947 से पहले जम्मू एवं कश्मीर में राजशाही थी। इसके हिंदू शासक हरि सिंह भारत में शामिल होना नहीं चाहते थे और उन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य के लिए भारत और पाकिस्तान के साथ समझौता करने की कोशिश की। पाकिस्तानी नेता सोचते थे कि कश्मीर, पाकिस्तान से संबद्ध है, क्योंकि राज्य की ज्यादातर आबादी मुस्लिम है। बहरहाल यहाँ के लोग स्थिति को अलग नज़रिए से देखते थे। वे अपने को कश्मीरी सबसे पहले, कुछ और बाद में मानते थे। राज्य में नेशनल कांफ्रेंस के शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में जन आंदोलन चला। शेख अब्दुल्ला चाहते थे कि महाराजा पद छोड़ें, लेकिन वे पाकिस्तान में शामिल होने के खिलाफ थे। नेशनल कांफ्रेंस एक धर्मनिरपेक्ष संगठन था और इसका कांग्रेस के साथ काफी समय तक गठबंधन रहा। राष्ट्रीय राजनीति के कई प्रमुख नेता शेख अब्दुल्ला के मित्र थे। इनमें नेहरू भी शामिल हैं।

अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान ने कबायली घुसपैठियों को अपनी तरफ से कश्मीर पर कब्जा करने भेजा। ऐसे में कश्मीर के महाराजा भारतीय सेना से मदद माँगने को मजबूर हुए। भारत ने सैन्य मदद उपलब्ध कराई और कश्मीर घाटी से घुसपैठियों को खदेड़ा। इससे पहले

जम्मू और कश्मीर



नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

अगर बात यही है, तो राज्य का नाम जम्मू, कश्मीर और लद्दाख क्यों नहीं कर दिया जाता। अन्य बातों के अलावा जेकेएल कहना भी आसान है।





ई. वी.

रामास्वामी नायकर
(1879-1973) :

पेरियार के नाम से
प्रसिद्ध; ऊनीश्वरवाद
के प्रबल समर्थक;

जाति-विरोधी आंदोलन एवं द्रविड़
अस्मिता के उद्भावक; राजनीतिक जीवन
की शुरुआत कांग्रेस कार्यकर्ता के
रूप में; आत्मसम्मान आंदोलन के जनक
(1925); ब्राह्मण विरोधी आंदोलन का
नेतृत्व; जस्टिस पार्टी के कार्यकर्ता और
द्रविड़ कषगम की स्थापना; हिंदी और
उत्तर भारतीय वर्चस्व का विरोध; 'उत्तर
भारतीय लोग एवं ब्राह्मण द्रविड़ों से
अलग आर्य हैं' इस मत का प्रतिपादन
किया।

द्रविड़ आंदोलन

‘उत्तर हर दिन बढ़ता जाए, दक्षिण दिन-दिन
घटता जाए’

यह द्रविड़ आंदोलन के एक बेहद लोकप्रिय नारे का हिंदी
रूपांतर है। यह आंदोलन भारत के क्षेत्रीय आंदोलनों में सबसे
ताकतवर आंदोलन था। भारतीय राजनीति में यह आंदोलन
क्षेत्रीयतावादी भावनाओं की सर्वप्रथम और सबसे प्रबल
अभिव्यक्ति था। हालाँकि आंदोलन के नेतृत्व के एक हिस्से
की आकांक्षा एक स्वतंत्र द्रविड़ राष्ट्र बनाने की थी, पर
आंदोलन ने कभी सशस्त्र संघर्ष की राह नहीं अपनायी। नेतृत्व
ने अपनी माँग आगे बढ़ाने के लिए सार्वजनिक बहसों और
चुनावी मंच का ही इस्तेमाल किया। द्रविड़ आंदोलन की बागडोर
तमिल समाज सुधारक ई.वी. रामास्वामी नायकर ‘पेरियार’
के हाथों में थी। इस आंदोलन से एक राजनीतिक
संगठन-‘द्रविड़ कषगम’ का सूत्रपात हुआ। यह संगठन
ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करता था तथा उत्तरी भारत
के राजनीतिक, आर्थिक और साँस्कृतिक प्रभुत्व को नकारते
हुए क्षेत्रीय गौरव की प्रतिष्ठा पर जोर देता था। प्रारंभ में,
द्रविड़ आंदोलन समग्र दक्षिण भारतीय संदर्भ में अपनी बात
रखता था लेकिन अन्य दक्षिणी राज्यों से समर्थन न मिलने के

कारण यह आंदोलन धीरे-धीरे तमिलनाडु तक ही सिमट कर रह गया।

बाद में द्रविड़ कषगम दो धड़ों में बंट गया और आंदोलन की

समूची राजनीतिक विरासत द्रविड़ मुनेत्र

कषगम के पाले में केंद्रित

हो गई। 1953-54 के

दौरान डीएमके ने तीन-सूत्री

आंदोलन के साथ राजनीति में

कदम रखा। आंदोलन की तीन

माँगें थी : पहली, कल्लाकुडी

नामक रेलवे स्टेशन का नया

नाम-डालमियापुरम निरस्त किया

जाए और स्टेशन का मूल नाम बहाल

किया जाए। संगठन की यह माँग

उत्तर भारतीय आर्थिक प्रतीकों के प्रति

उसके विरोध को प्रकट करती थी।



तमिलनाडु में हिंदी विरोधी आंदोलन, 1965

साभार: व. हिंदू



दूसरी माँग इस बात को लेकर थी कि स्कूली पाठ्यक्रम में तमिल संस्कृति के इतिहास को ज्यादा महत्व दिया जाए। संगठन की तीसरी माँग राज्य सरकार के शिल्पकर्म शिक्षा कार्यक्रम को लेकर थी। संगठन के अनुसार यह नीति समाज में ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देती थी। डीएमके हिंदी को राजभाषा का दर्जा देने के भी खिलाफ थी। 1965 के हिंदी विरोधी आंदोलन की सफलता ने डीएमके को जनता के बीच और भी लोकप्रिय बना दिया।

राजनीतिक आंदोलनों के एक लंबे सिलसिले के बाद डीएमके को 1967 के विधानसभा चुनावों में बड़ी सफलता हाथ लगी। तब से लेकर आज तक तमिलनाडु की राजनीति में द्रविड़ दलों का वर्चस्व कायम है। डीएमके के संस्थापक सी. अन्नादुरै की मृत्यु के बाद दल में दोफाड़ हो गया। इसमें एक दल मूल नाम यानी डीएमके को लेकर आगे चला जबकि दूसरा दल खुद को आल इंडिया अन्ना द्रमुक कहने लगा। यह दल स्वयं को द्रविड़ विरासत का असली हकदार बताता था। तमिलनाडु की राजनीति में ये दोनों दल चार दशकों से दबदबा बनाए हुए हैं। इनमें से एक न एक दल 1996 से केंद्र में सत्तारूढ़ गठबंधन का हिस्सा रहा है। 1990 के दशक में एमडीएमके (मरुमलर्ची द्रविड़ मुनेत्र कषगम), पीएमके (पट्टाली मक्कल कच्ची), डीएमडीके (देसिया मुरपोक्कू द्रविड़ कषगम) जैसे कई अन्य दल अस्तित्व में आए। तमिलनाडु की राजनीति में इन सभी दलों ने क्षेत्रीय गौरव के मुद्दे को किसी न किसी रूप में जिंदा रखा है। एक समय क्षेत्रीय राजनीति को भारतीय राष्ट्र के लिए खतरा माना जाता था। लेकिन तमिलनाडु की राजनीति क्षेत्रवाद और राष्ट्रवाद के बीच सहकारिता की भावना का अच्छा उदाहरण पेश करती है।



साभार हिंदुस्तान टाइम्स



शेख मोहम्मद

अब्दुल्ला

(1905-1982) :

जम्मू एवं कश्मीर के नेता; जम्मू-कश्मीर की स्वायत्तता एवं धर्मनिरपेक्षता के

समर्थक; राजशाही के खिलाफ जन आंदोलन का नेतृत्व; धर्मनिरपेक्षता के आधार पर पाकिस्तान का विरोध; नेशनल कांफ्रेंस के नेता; भारत में विलय के बाद जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री (1947); भारत सरकार द्वारा बर्खास्तगी और कारावास (1953-1964); पुनः कारावास (1965-1968); 1974 में इंदिरा गाँधी के साथ समझौता, राज्य के मुख्यमंत्री पद पर आरूढ़।

भारत सरकार ने महाराजा से भारत संघ में विलय के दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करा लिए। इस पर भी सहमति जताई गई कि स्थिति सामान्य होने पर जम्मू-कश्मीर की नियति का फ़ैसला जनमत सर्वेक्षण के द्वारा होगा। मार्च 1948 में शेख अब्दुल्ला जम्मू-कश्मीर राज्य के प्रधानमंत्री बने (राज्य में सरकार के मुखिया को तब प्रधानमंत्री कहा जाता था)। भारत, जम्मू एवं कश्मीर की स्वायत्तता को बनाए रखने पर सहमत हो गया। इसे संविधान में धारा 370 का प्रावधान करके संवैधानिक दर्जा दिया गया।

बाहरी और आंतरिक विवाद

उस समय से जम्मू एवं कश्मीर की राजनीति हमेशा विवादग्रस्त एवं संघर्षयुक्त रही। इसके बाहरी एवं आंतरिक दोनों कारण हैं। कश्मीर समस्या का एक कारण पाकिस्तान का रवैया है। उसने हमेशा यह दावा किया है कि कश्मीर घाटी पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए। आप पढ़ चुके हैं कि 1947 में इस राज्य में पाकिस्तान ने कबायली हमला करवाया था। इसके परिणामस्वरूप राज्य का एक हिस्सा पाकिस्तानी नियंत्रण में आ गया। भारत ने दावा किया कि यह क्षेत्र का अवैध अधिग्रहण है। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को 'आज़ाद कश्मीर' कहा। 1947 के बाद कश्मीर भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष का एक बड़ा मुद्दा रहा है।

आंतरिक रूप से देखें तो भारतीय संघ में कश्मीर की हैसियत को लेकर विवाद रहा है। आप जानते हैं कि कश्मीर को संविधान में धारा 370 के तहत विशेष दर्जा दिया गया है। धारा 370 एवं 371 के तहत किए गए विशेष प्रावधानों के बारे में आपने पिछले वर्ष 'भारतीय संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' में पढ़ा होगा। धारा 370 के तहत जम्मू एवं कश्मीर को भारत के अन्य राज्यों के मुकाबले ज्यादा स्वायत्तता दी गई है। राज्य का अपना संविधान है। भारतीय संविधान की सारी व्यवस्थाएँ इस राज्य में लागू नहीं होती। संसद द्वारा पारित कानून राज्य में उसकी सहमति के बाद ही लागू हो सकते हैं।

इस विशेष स्थिति से दो विरोधी प्रतिक्रियाएँ सामने आईं। लोगों का एक समूह मानता है कि इस राज्य को धारा 370 के तहत विशेष दर्जा देने से यह भारत के साथ पूरी तरह नहीं जुड़ पाया है। यह समूह मानता है कि धारा 370 को समाप्त कर देना चाहिए और जम्मू-कश्मीर को अन्य राज्यों की तरह ही होना चाहिए।

दूसरा वर्ग (इसमें ज्यादातर कश्मीरी हैं) विश्वास करता है कि इतनी भर स्वायत्तता पर्याप्त नहीं है। कश्मीरियों के एक वर्ग ने तीन प्रमुख शिकायतें उठायी हैं। पहली यह कि भारत सरकार ने वायदा किया था कि कबायली घुसपैठियों से निपटने के बाद जब स्थिति सामान्य हो जाएगी तो भारत संघ में विलय के मुद्दे पर जनमत-संग्रह कराया जाएगा। इसे पूरा नहीं किया गया। दूसरी, धारा 370 के तहत दिया गया विशेष दर्जा पूरी तरह से अमल में नहीं लाया गया। इससे स्वायत्तता की बहाली अथवा राज्य को ज्यादा स्वायत्तता देने की माँग उठी। तीसरी शिकायत यह की जाती है कि भारत के बाकी हिस्सों में जिस तरह लोकतंत्र पर अमल होता है उस तरह का संस्थागत लोकतांत्रिक बरताव जम्मू-कश्मीर में नहीं होता।

राजनीति : 1948 के बाद से

प्रधानमंत्री का पद संभालने के बाद शेख अब्दुल्ला ने भूमि-सुधार की बड़ी मुहिम चलायी। उन्होंने इसके साथ-साथ जन-कल्याण की कुछ नीतियाँ भी लागू

सिने-संसार

रोज़ा



इस तमिल फिल्म में एक नवोढ़ा पत्नी के दुख और साहस की कहानी बयान की गयी है। रोज़ा के पति का उग्रवादी अपहरण कर लेते हैं। वह खुफिया संदेशों को पढ़ने में माहिर है। उसे कश्मीर में तैनात किया गया है जहाँ उसका काम दुश्मन के खुफिया संदेशों को पढ़ना है। पति-पत्नी में जैसे ही दाम्पत्य का प्रेम बढ़ने लगता है वैसे ही पति का अपहरण हो जाता है। अपहरणकर्त्ताओं की माँग है कि रोज़ा के पति ऋषि को तभी छोड़ा जाएगा जब जेल में बंद उनके सरगना को छोड़ दिया जाए।

रोज़ा का संसार ढहने लगता है। वह अधिकारियों और राजनेताओं के दरवाजे खटखटाते हुए दर-दर भटकती है। यह फिल्म भारत-पाकिस्तान विवाद की पृष्ठभूमि में बनी थी इस वजह से लोगों में यह बड़ी लोकप्रिय हुई। इस फिल्म को हिंदी सहित अन्य भाषाओं में भी रूपांतरित किया गया।

वर्ष : 1992

निर्देशक : मणिरत्नम्

पटकथा : मणिरत्नम्

अभिनय (हिंदी): मधु, अरविन्द स्वामी,
पंकज कपूर, जनगराज।

तो
नेहरू ने अपने
एक अजीब दोस्त को
इतने लंबे समय तक जेल
में डाले रखा! उन्हें यह सब
कैसा लगा होगा?



कीं। इन सबसे यहाँ की जनता को फायदा हुआ। बहरहाल, कश्मीर की हैसियत को लेकर शेख अब्दुल्ला के विचार केंद्र सरकार से मेल नहीं खाते थे। इससे दोनों के बीच मतभेद पैदा हुए। 1953 में शेख अब्दुल्ला को बर्खास्त कर दिया गया। कई सालों तक उन्हें नज़रबंद रखा गया। शेख अब्दुल्ला के बाद जो नेता सत्तासीन हुए वे शेख की तरह लोकप्रिय नहीं थे। केंद्र के समर्थन के दम पर ही वे राज्य में शासन चला सके। राज्य में हुए विभिन्न चुनावों में धांधली और गड़बड़ी के गंभीर आरोप लगे।

1953 से लेकर 1974 के बीच अधिकांश समय इस राज्य की राजनीति पर कांग्रेस का असर रहा। कमजोर हो चुकी नेशनल कांफ्रेंस (शेख अब्दुल्ला के बिना) कांग्रेस के समर्थन से राज्य में कुछ समय तक सत्तासीन रही लेकिन बाद में वह कांग्रेस में मिल गई। इस तरह राज्य की सत्ता सीधे कांग्रेस के नियंत्रण में आ गई। इस बीच शेख अब्दुल्ला और भारत सरकार के बीच सुलह की कोशिश जारी रही। आखिरकार 1974 में इंदिरा गाँधी के साथ शेख अब्दुल्ला ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए और वे राज्य के मुख्यमंत्री बने। उन्होंने नेशनल कांफ्रेंस को फिर से खड़ा किया और 1977 के राज्य विधानसभा के चुनाव में बहुमत से निर्वाचित हुए। सन् 1982 में शेख अब्दुल्ला की मृत्यु हो गई और नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व की कमान उनके पुत्र फारुख अब्दुल्ला ने संभाली। फारुख अब्दुल्ला भी मुख्यमंत्री बने। बहरहाल, राज्यपाल ने जल्दी ही उन्हें बर्खास्त कर दिया और नेशनल कांफ्रेंस से एक टूटे हुए गुट ने थोड़े समय के लिए राज्य की सत्ता संभाली।



साभार: टाइम्स ऑफ इंडिया

केंद्र सरकार के हस्तक्षेप से फारुख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त किया गया था। इससे कश्मीर में नाराजगी के भाव पैदा हुए। शेख अब्दुल्ला और इंदिरा गाँधी के बीच हुए समझौते से राज्य के लोगों का लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर विश्वास जमा था। फारुख अब्दुल्ला की सरकार की बर्खास्तगी से इस विश्वास को धक्का लगा। 1986 में नेशनल काँग्रेस ने केंद्र में सत्तासीन कांग्रेस पार्टी के साथ चुनावी गठबंधन किया। इससे भी लोगों को लगा कि केंद्र राज्य की राजनीति में हस्तक्षेप कर रहा है।

विद्रोही तेवर और उसके बाद

इसी माहौल में 1987 के विधानसभा चुनाव हुए। आधिकारिक नतीजे बता रहे थे कि नेशनल काँग्रेस और कांग्रेस के गठबंधन को भारी जीत मिली है। फारुख अब्दुल्ला मुख्यमंत्री बने। बहरहाल, लोग-बाग यह मान रहे थे कि चुनाव में धाँधली हुई है और चुनाव परिणाम जनता की पसंद की नुमाइंदगी नहीं कर रहे। 1980 के दशक से ही यहाँ के लोगों में प्रशासनिक अक्षमता को लेकर रोष पनप रहा था। लोगों के मन का गुस्सा यह सोचकर और भड़का कि केंद्र के इशारे पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के साथ हेरा-फेरी की जा रही है। इन सब बातों से कश्मीर में राजनीतिक संकट उठ खड़ा हुआ। इस संकट ने राज्य में जारी उग्रवाद के बीच गंभीर रूप धारण किया।

1989 तक यह राज्य उग्रवादी आंदोलन की गिरफ्त में आ चुका था। इस आंदोलन में लोगों को अलग कश्मीर राष्ट्र के नाम पर लामबंद किया जा रहा था। उग्रवादियों को पाकिस्तान ने नैतिक, भौतिक और सैन्य सहायता दी। कई सालों तक इस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू रहा। राज्य पर सेना को नियंत्रण रखना पड़ा। 1990 से बाद के समय में इस राज्य के लोगों को उग्रवादियों और सेना की हिंसा भुगतनी पड़ी। 1996 में एक बार फिर इस राज्य में विधानसभा के चुनाव हुए। फारुख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल काँग्रेस की सरकार बनी और उसने जम्मू-कश्मीर के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता की माँग की। जम्मू-कश्मीर में 2002 के चुनाव बड़े निष्पक्ष ढंग से हुए। नेशनल काँग्रेस को बहुमत नहीं मिल पाया। इस चुनाव में पीपुल्स डेमोक्रेटिक अलायंस (पीडीपी) और कांग्रेस की गठबंधन सरकार सत्ता में आई।

अलगाववाद और उसके बाद

1989 से जम्मू-कश्मीर में अलगाववादी राजनीति ने सर उठाया था। इसने कई रूप लिए और इस राजनीति की कई धाराएँ हैं। अलगाववादियों का एक तबका कश्मीर को अलग राष्ट्र बनाना चाहता है यानी एक ऐसा कश्मीर जो न पाकिस्तान का हिस्सा हो और न भारत का। कुछ अलगाववादी समूह चाहते हैं कि कश्मीर का विलय पाकिस्तान में हो जाए। अलगाववादी राजनीति की एक तीसरी धारा भी है। इस धारा के समर्थक चाहते हैं कि कश्मीर भारत संघ का ही हिस्सा रहे लेकिन उसे और स्वायत्तता दी जाय। स्वायत्तता की बात जम्मू और लद्दाख के लोगों को अलग-अलग ढंग से लुभाती है। इस क्षेत्र के लोगों की एक आम शिकायत उपेक्षा भरे बरताव और पिछड़ेपन को लेकर है। इस वजह से पूरे राज्य की स्वायत्तता की माँग जितनी प्रबल है उतनी ही प्रबल माँग इस राज्य के विभिन्न भागों में अपनी-अपनी स्वायत्तता को लेकर है।



कश्मीर में शांति

<http://govande.sulekha.com>

“

“अपने निर्वाचित नेता की बर्खास्तगी (1984 में) की इस दूसरी घटना के बाद अब कश्मीरियों का यकीन पुख्ता हो जाएगा कि भारत कभी भी उन्हें खुद पर शासन नहीं करने देगा।”

”

बी.के. नेहरू

फारुख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त करने से पहले।

पर
यह सारी बात
तो सरकार, अधिकारियों,
नेताओं और आतंकवादियों के
बारे में है। कश्मीरी जनता के बारे
में कोई कुछ क्यों नहीं कहता?
लोकतंत्र में तो जनता की इच्छा
को महत्व दिया जाना
चाहिए। क्यों मैं ठीक
कह रही हूँ न?



मास्टर तारा सिंह

(1885-1967) :

प्रमुख सिख धार्मिक एवं
राजनीतिक नेता;
शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक
कमेटी (एसजीपीसी) के
शुरुआती नेताओं में से
एक; अकाली आंदोलन के
नेता; स्वतंत्रता आंदोलन
के समर्थक लेकिन सिर्फ
मुस्लिमों के साथ समझौते
की कांग्रेस नीति के
विरोधी; स्वतंत्रता के बाद
अलग पंजाब राज्य के
निर्माण के समर्थक।

शुरुआती सालों में उग्रवाद को लोगों का कुछ समर्थन हासिल था लेकिन अब यहाँ के लोग शांति की कामना कर रहे हैं। केंद्र ने विभिन्न अलगाववादी समूहों से बातचीत शुरू कर दी है। अलग राष्ट्र की माँग की जगह अब अलगाववादी समूह अपनी बातचीत में भारत संघ के साथ कश्मीर के रिश्ते को पुनर्परिभाषित करने पर जोर दे रहे हैं।

जम्मू-कश्मीर बहुलवादी समाज और राजनीति का एक जीवन्त उदाहरण है। यहाँ धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषायी, जातीय और जनजातीय यानी हर तरह की विभिन्नताएँ हैं। साथ ही, राजनीतिक आकांक्षाएँ भी एक-सी नहीं हैं। एक तरफ इस राज्य में विभिन्नताएँ और इसी के अनुकूल अलग-अलग राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं तो दूसरी तरफ संघर्ष और तनाव की स्थितियाँ भी बदस्तूर कायम हैं। लेकिन, इन सबके बीच राज्य की बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष संस्कृति अधिकांशतया अक्षुण्ण बनी हुई है।

पंजाब

1980 के दशक में पंजाब में भी बड़े बदलाव आए। इस प्रांत की सामाजिक बुनावट विभाजन के समय पहली बार बदली थी। बाद में इसके कुछ हिस्सों से हरियाणा और हिमाचल प्रदेश नामक राज्य बनाए गए। इससे भी पंजाब की सामाजिक संरचना बदली। हालाँकि 1950 के दशक में देश के शेष हिस्से को भाषायी आधार पर पुनर्गठित किया गया था लेकिन पंजाब को 1966 तक इंतजार करना पड़ा। इस साल पंजाबी-भाषी प्रांत का निर्माण हुआ। सिखों की राजनीतिक शाखा के रूप में 1920 के दशक में अकाली दल का गठन हुआ था। अकाली दल ने 'पंजाबी सूबा' के गठन का आंदोलन चलाया। पंजाबी-भाषी सूबे में सिख बहुसंख्यक हो गए।

राजनीतिक संदर्भ

पंजाब सूबे के पुनर्गठन के बाद अकाली दल ने यहाँ 1967 और इसके बाद 1977 में सरकार बनायी। दोनों ही मौके पर गठबंधन सरकार बनी। अकालियों के आगे यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि सूबे के नए सीमांकन के बावजूद उनकी राजनीतिक स्थिति डावांड़ोल है। पहली बात तो यही कि उनकी सरकार को केंद्र ने कार्यकाल पूरा करने से पहले बर्खास्त कर दिया था। दूसरे, अकाली दल को पंजाब के हिंदुओं के बीच कुछ खास समर्थन हासिल नहीं था। तीसरे, सिख समुदाय भी दूसरे धार्मिक समुदायों की तरह जाति और वर्ग के धरातल पर बँटा हुआ था। कांग्रेस को दलितों के बीच चाहे वे सिख हों या हिंदू—अकालियों से कहीं ज्यादा समर्थन प्राप्त था।

इन्हीं परिस्थितियों के मद्देनजर 1970 के दशक में अकालियों के एक तबके ने पंजाब के लिए स्वायत्तता की माँग उठायी। 1973 में, आनंदपुर साहिब में हुए एक सम्मेलन में इस आशय का प्रस्ताव पारित हुआ। आनंदपुर साहिब प्रस्ताव में क्षेत्रीय स्वायत्तता की बात उठायी गई थी। प्रस्ताव की माँगों में केंद्र-राज्य संबंधों को पुनर्परिभाषित करने की बात भी शामिल थी। इस प्रस्ताव में सिख 'कौम' (नेशन या समुदाय) की आकांक्षाओं पर जोर देते हुए सिखों के 'बोलबाला' (प्रभुत्व या वर्चस्व) का ऐलान किया गया। यह प्रस्ताव संघवाद को मजबूत करने की अपील करता है। लेकिन इसे एक अलग सिख राष्ट्र की माँग के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

आनंदपुर साहिब प्रस्ताव का सिख जन-समुदाय पर बड़ा कम असर पड़ा। कुछ साल बाद जब 1980 में अकाली दल की सरकार बर्खास्त हो गई तो अकाली दल ने पंजाब तथा पड़ोसी राज्यों के बीच पानी के बँटवारे के मुद्दे पर एक आंदोलन चलाया। धार्मिक नेताओं के एक तबके ने स्वायत्त सिख पहचान की बात उठायी। कुछ चरमपंथी तबकों ने भारत से अलग होकर 'खालिस्तान' बनाने की वकालत की।

हिंसा का चक्र

जल्दी ही आंदोलन का नेतृत्व नरमपंथी अकालियों के हाथ से निकलकर चरमपंथी तत्त्वों के हाथ में चला गया और आंदोलन ने सशस्त्र विद्रोह का रूप ले लिया। उग्रवादियों ने अमृतसर स्थित सिखों के तीर्थ स्वर्णमंदिर में अपना मुख्यालय बनाया और स्वर्णमंदिर एक हथियारबंद किले में तब्दील हो गया। 1984 के जून माह में भारत सरकार ने 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' चलाया। यह स्वर्णमंदिर में की गई सैन्य कार्रवाई का कूट नाम था। इस सैन्य-अभियान में सरकार ने उग्रवादियों को तो सफलतापूर्वक मार भगाया लेकिन सैन्य कार्रवाई से ऐतिहासिक स्वर्णमंदिर को क्षति भी पहुँची। इससे सिखों की भावनाओं को गहरी चोट लगी। भारत और भारत से बाहर बसे अधिकतर सिखों ने सैन्य-अभियान को अपने धर्म-विश्वास पर हमला माना। इन बातों से उग्रवादी और चरमपंथी समूहों को और बल मिला।

कुछ और त्रासद घटनाओं ने पंजाब की समस्या को एक जटिल रास्ते पर ला खड़ा किया। प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की 31 अक्टूबर 1984 के दिन उनके आवास के बाहर उन्हीं के अंगरक्षकों ने हत्या कर दी। ये अंगरक्षक सिख थे और ऑपरेशन ब्लू स्टार का बदला लेना चाहते थे। एक तरफ पूरा देश इस घटना से शोक-संतप्त था तो दूसरी तरफ दिल्ली सहित उत्तर भारत के कई हिस्सों में सिख समुदाय के विरुद्ध हिंसा भड़क उठी। यह हिंसा कई हफ्तों तक जारी रही। दो हजार से ज्यादा की तादाद में सिख, दिल्ली में मारे गए। देश की राजधानी दिल्ली इस हिंसा से सबसे ज्यादा प्रभावित हुई थी। कानपुर, बोकारो और चास जैसे देश के कई जगहों पर सैकड़ों सिख मारे गए। कई सिख-परिवारों में कोई भी पुरुष न बचा। इन परिवारों को गहरा भावनात्मक आघात पहुँचा और आर्थिक हानि उठानी पड़ी। सिखों को सबसे ज्यादा दुख इस बात का था कि सरकार ने स्थिति को सामान्य बनाने के लिए बड़ी देर से कदम उठाए। साथ ही, हिंसा करने वाले

लोगों को कारगर तरीके से दंड भी नहीं दिया गया। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने 2005 में संसद में अपने भाषण के दौरान इस रक्तपात पर अफसोस जताया और सिख-विरोधी हिंसा के लिए देश से माफी माँगी।

शांति की ओर

1984 के चुनावों के बाद सत्ता में आने पर नए प्रधानमंत्री



संत हरचंद
सिंह लोंगोवाल
(1932-1985) :
सिखों के धार्मिक
एवं राजनीतिक नेता;
छठे दशक के दौरान
राजनीतिक जीवन की
शुरुआत अकाली नेता
के रूप में; 1980
में अकाली दल के
अध्यक्ष; अकालियों की
प्रमुख माँगों को लेकर
प्रधानमंत्री राजीव गाँधी
से समझौता; अज्ञात
सिख युवक द्वारा हत्या।



साधार: नई दुनिया

“

“इस बात के साक्ष्य मिले हैं कि 31-10-84 को या तो बैठके हुई अथवा हमलावरों से संपर्क साधा गया और उनसे सिखों को जान से मारने तथा उनके घरों और दुकानों को लूटने के लिए कहा गया। बड़े व्यवस्थित तरीके से हमले हुए और हमलावरों को पुलिस का भी ज्यादा भय नहीं था। इससे जान पड़ता है मानो इन्हें आश्वासन दिया गया हो कि इन कामों को अंजाम देते समय या उसके बाद भी इन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया जाएगा।”

”

न्यायमूर्ति नानावती जाँच आयोग, रिपोर्ट, खंड-I, 2005



साभार : रघुराय



इंदिरा गांधी की हत्या के विषय पर बने एक दीवार-चित्र को यहाँ महिलाएँ देख रही हैं।

साधार: टाइम्स ऑफ इंडिया



इंदिरा गाँधी की हत्या के दिन टाइम्स ऑफ इंडिया ने अखबार का एक विशेष अपराहन संस्करण प्रकाशित किया।

“

“सिख समुदाय से ही नहीं पूरे भारत राष्ट्र से माफी माँगने में मुझे कोई संकोच नहीं क्योंकि 1984 में जो कुछ हुआ वह राष्ट्र की अवधारणा तथा संविधान के लिखे का नकार था। इसलिए, मैं यहाँ किसी झूठी प्रतिष्ठा को लेकर नहीं खड़ा हूँ। अपनी सरकार की तरफ से, इस देश की समूची जनता की तरफ से मैं अपना सिर शर्म से झुकाता हूँ कि ऐसा हादसा पेश आया। लेकिन, मान्यवर, राष्ट्र के जीवन में ऐसी घड़ियाँ आती हैं। अतीत हमारे साथ होता है। हम अतीत को दोबारा नहीं लिख सकते। लेकिन, मनुष्य के रूप में हमारे पास वह इच्छाशक्ति और क्षमता है कि हम अपने लिए एक बेहतर भविष्य का निर्माण कर सकें।”

”

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह 11 अगस्त, 2005 को राज्यसभा की बहस में हिस्सा लेते हुए।

से प्रभावित लोगों को मुआवजा देने और उनके साथ बेहतर सलूक करने पर राजी हुई। साथ ही, पंजाब से विशेष सुरक्षा बल अधिनियम को वापस लेने की बात पर भी सहमति हुई।

बहरहाल, पंजाब में न तो अमन आसानी से कायम हुआ और न ही समझौते के तत्काल बाद। हिंसा का चक्र लगभग एक दशक तक चलता रहा। उग्रवादी हिंसा और इस हिंसा को दबाने के लिए की गई कार्रवाइयों में मानवाधिकार का व्यापक उल्लंघन हुआ। साथ ही, पुलिस की ओर से भी ज्यादती हुई। राजनीतिक रूप से देखें तो घटनाओं के इस चक्र में अकाली दल बिखर गया। केंद्र सरकार को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। इससे राज्य में सामान्य राजनीतिक तथा चुनावी प्रक्रिया बाधित हुई। संशय और हिंसा से भरे माहौल में राजनीतिक प्रक्रिया को फिर से पटरी पर लाना आसान नहीं था। 1992 में पंजाब में चुनाव हुए तो महज 24 फीसदी मतदाता वोट डालने के लिए आए।

उग्रवाद को सुरक्षा बलों ने आखिरकार दबा दिया लेकिन पंजाब के लोगों ने, चाहे वे सिख हों या हिंदू, इस क्रम में अनगिनत दुख उठाए। 1990 के दशक के मध्यवर्ती वर्षों में पंजाब में शांति बहाल हुई। 1997 में अकाली दल (बादल) और भाजपा के गठबंधन को बड़ी विजय मिली। उग्रवाद के खात्मे के बाद के दौर में यह पंजाब का पहला चुनाव था। राज्य में एक बार फिर आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के सवाल प्रमुख हो उठे। हालाँकि धार्मिक पहचान यहाँ की जनता के लिए लगातार प्रमुख बनी हुई है लेकिन राजनीति अब धर्मनिरपेक्षता की राह पर चल पड़ी है।

पूर्वोत्तर

पूर्वोत्तर में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ 1980 के दशक में एक निर्णायक मोड़ पर आ गई थीं। क्षेत्र में सात राज्य हैं और इन्हें ‘सात बहनें’ कहा जाता है। इस क्षेत्र में देश की कुल 4 फीसदी आबादी निवास करती है। लेकिन भारत के कुल क्षेत्रफल में पूर्वोत्तर के हिस्से को देखते हुए यह आबादी दोगुनी कही जाएगी। 22 किलोमीटर लंबी एक पतली-सी राहदारी इस इलाके को शेष भारत से जोड़ती है अन्यथा इस क्षेत्र की सीमाएँ चीन, म्यांमार और बांग्लादेश से लगती हैं और यह इलाका भारत के लिए एक तरह से दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रवेश-द्वार है।

इस इलाके में 1947 के बाद से अनेक बदलाव आए हैं। त्रिपुरा, मणिपुर और मेघालय का खासी पहाड़ी क्षेत्र, पहले अलग-अलग रियासत थे। आज़ादी के बाद भारत संघ में इनका विलय हुआ। पूर्वोत्तर के पूरे इलाके का बड़े व्यापक स्तर पर राजनीतिक पुनर्गठन हुआ है। नगालैंड को 1963 में राज्य बनाया गया। मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय 1972 में राज्य बने जबकि मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश को 1987 में राज्य का दर्जा दिया गया। 1947 के भारत-विभाजन से पूर्वोत्तर के इलाके भारत के शेष भागों से एकदम अलग-थलग पड़ गए और इसका अर्थव्यवस्था पर इससे दुष्प्रभाव पड़ा। भारत के शेष भागों से अलग-थलग पड़ जाने के कारण इस इलाके में विकास पर ध्यान नहीं दिया जा सका। यहाँ की राजनीति भी अपने ही दायरे में सीमित रही। इसके साथ-साथ पड़ोसी राज्यों और देशों से आने वाले शरणार्थियों के कारण इलाके की जनसंख्या की संरचना में बड़ा बदलाव आया।

पूर्वोत्तर का अलग-थलग पड़ जाना, इस इलाके की जटिल सामाजिक संरचना और देश के अन्य हिस्सों के मुकाबले इस इलाके का आर्थिक रूप से पिछड़ा होना, जैसी कई बातों ने एक साथ मिलकर एक जटिल स्थिति पैदा की। ऐसे में पूर्वोत्तर के राज्यों से बड़ी बेतरतीब किस्म की माँगें उठीं। इस इलाके में भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा काफी बड़ी है लेकिन पूर्वोत्तर और भारत के शेष भागों के बीच संचार-व्यवस्था बड़ी लचर है। इससे भी पूर्वोत्तर की राजनीति का स्वभाव ज्यादा संवेदनशील रहा। पूर्वोत्तर के राज्यों में राजनीति पर तीन मुद्दे हावी हैं: स्वायत्तता की माँग, अलगाव के आंदोलन और 'बाहरी' लोगों का विरोध। इसमें पहले मुद्दे यानी स्वायत्तता की माँग पर 1970 के दशक में कुछ शुरुआती पहल की गई थी। इससे शेष दो मुद्दों ने 1980 के दशक में नाटकीय मोड़ लिया।

नोट: यह नक्शा कोई पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

स्वायत्तता की माँग

आज़ादी के वक्त मणिपुर और त्रिपुरा को छोड़ दें तो यह पूरा इलाका असम कहलाता था। गैर-असमी लोगों को जब लगा कि असम की सरकार उन पर असमी भाषा थोप रही है तो इस इलाके से राजनीतिक स्वायत्तता की माँग उठी। पूरे राज्य में असमी भाषा को लादने के

खिलाफ विरोध प्रदर्शन और दंगे हुए। बड़े जनजाति समुदाय के नेता असम से अलग होना चाहते थे। इन लोगों ने 'ईस्टर्न इंडिया ट्राइबल यूनियन' का गठन किया जो 1960 में कहीं ज्यादा व्यापक 'ऑल पार्टी हिल्स कांफ्रेंस' में तब्दील हो गया। इन नेताओं की माँग थी कि असम से अलग एक जनजातीय राज्य बनाया जाए। आखिरकार एक जनजातीय राज्य की जगह असम को काटकर कई जनजातीय राज्य बने। केंद्र सरकार ने अलग-थलग वक्त पर असम को बाँटकर मेघालय, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश बनाया। त्रिपुरा और मणिपुर को भी राज्य का दर्जा दिया गया।

1972 तक पूर्वोत्तर का पुनर्गठन पूरा हो चुका था। लेकिन, स्वायत्तता की माँग खत्म न हुई। उदाहरण के लिए, असम के बोडो, करबी और दिमसा जैसे समुदायों ने अपने लिए अलग राज्य की माँग की। अपनी माँग के पक्ष में उन्होंने जनमत तैयार करने के प्रयास किए,



जन आंदोलन चलाए और विद्रोही कार्रवाईयों भी कीं। कई दफ़ा ऐसा भी हुआ कि एक ही इलाके पर एक से ज्यादा समुदायों ने अपनी दावेदारी जतायी। छोटे-छोटे और निरंतर लघुतर होते राज्य बनाते चले जाना संभव नहीं था।

इस वजह से संघीय राजव्यवस्था के कुछ और प्रावधानों का उपयोग करके स्वायत्तता की माँग को संतुष्ट करने की कोशिश की गई और इन समुदायों को असम में ही रखा गया। करबी और दिमसा समुदायों को जिला-परिषद् के अंतर्गत स्वायत्तता दी गई जबकि बोडो जनजाति को हाल ही में स्वायत्त परिषद् का दर्जा दिया गया है।

अलगाववादी आंदोलन

स्वायत्तता की माँगों से निपटना आसान था क्योंकि संविधान में विभिन्नताओं का समाहार संघ में करने के लिए प्रावधान पहले से मौजूद थे। लेकिन जब कुछ समूहों ने अलग देश बनाने की माँग की और वह भी किसी क्षणिक आवेश में नहीं बल्कि सिद्धांतगत तैयारी के साथ, तो इस माँग से निपटना मुश्किल हो गया। देश के नेतृत्व को पूर्वोत्तर के दो राज्यों में अलगाववादी माँग का लंबे समय तक सामना करना पड़ा। इन दो मामलों की आपसी तुलना हमें लोकतांत्रिक राजनीति के कुछ सबक सिखाती है।

आज़ादी के बाद मिजो पर्वतीय क्षेत्र को असम के भीतर ही एक स्वायत्त जिला बना दिया गया था। कुछ मिजो लोगों का मानना था कि वे कभी भी 'ब्रिटिश इंडिया' के अंग नहीं रहे इसलिए भारत संघ से उनका कोई नाता नहीं है। 1959 में मिजो पर्वतीय इलाके में भारी अकाल पड़ा। असम की सरकार इस अकाल में समुचित प्रबंध करने में नाकाम रही। इसी के बाद अलगाववादी आंदोलन को जनसमर्थन मिलना शुरू हुआ। मिजो लोगों ने गुस्से में आकर लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट बनाया।

1966 में मिजो नेशनल फ्रंट ने आज़ादी की माँग करते हुए सशस्त्र अभियान शुरू किया। इस तरह भारतीय सेना और मिजो विद्रोहियों के बीच दो दशक तक चली लड़ाई की शुरुआत हुई। मिजो नेशनल फ्रंट ने गुरिल्ला युद्ध किया। उसे पाकिस्तान की सरकार ने समर्थन दिया था और तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान में मिजो विद्रोहियों ने अपने ठिकाने बनाए। भारतीय सेना ने विद्रोही गतिविधियों को दबाने के लिए जवाबी कार्रवाई की। इसमें आम जनता को भी कष्ट उठाने पड़े। एक दफ़े तो वायुसेना तक का इस्तेमाल किया गया। सेना के इन कदमों से स्थानीय लोगों में क्रोध और अलगाव की भावना और तेज हुई।

दो दशकों तक चले बगावत में हर पक्ष को हानि उठानी पड़ी। इसी बात को भाँपकर दोनों पक्षों के नेतृत्व ने समझदारी से काम लिया। पाकिस्तान में निर्वासित जीवन जी रहे लालडेंगा भारत आए और उन्होंने भारत सरकार के साथ बातचीत शुरू की। राजीव गाँधी ने इस बातचीत को एक सकारात्मक समाधान तक पहुँचाया। 1986 में राजीव गाँधी और लालडेंगा के बीच एक शांति समझौता हुआ। समझौते के अंतर्गत मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा मिला और उसे कुछ विशेष अधिकार दिए गए। मिजो नेशनल फ्रंट अलगाववादी संघर्ष की राह छोड़ने पर राजी हो गया। लालडेंगा मुख्यमंत्री बने। यह समझौता मिजोरम के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। आज मिजोरम पूर्वोत्तर का सबसे शांतिपूर्ण राज्य है और उसने कला, साहित्य तथा विकास की दिशा में अच्छी प्रगति की है।

मेरी दोस्त चोन कहती है कि दिल्ली के लोग यूरोप के नक्शों के बारे में ज्यादा जानते हैं और अपने देश के पूर्वोत्तर के हिस्से के बारे में कम। अपने सहपाठियों को देखकर तो यही लगता है कि उसकी बात एक हद तक सही है।



लालडेंगा

(1937-1990) :

मिजो नेशनल फ्रंट के संस्थापक और नेता: 1959 के अकाल के बाद विद्रोही बन गए: भारत के खिलाफ दो दशक तक सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व; 1986 में प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के साथ सुलह और एक समझौते पर हस्ताक्षर किए; नव-निर्मित मिजोरम के मुख्यमंत्री बने।



नगालैंड की कहानी भी मिजोरम की तरह है लेकिन नगालैंड का अलगावादी आंदोलन ज्यादा पुराना है और अभी इसका मिजोरम की तरह खुशगवार हल नहीं निकल पाया है। अंगमी जापू फ़िजो के नेतृत्व में नगा लोगों के एक तबके ने 1951 में अपने को भारत से आज़ाद घोषित कर दिया था। फ़िजो ने बातचीत के कई प्रस्ताव ठुकराए। हिंसक विद्रोह के एक दौर के बाद नगा लोगों के एक तबके ने भारत सरकार के साथ एक समझौते पर दस्तखत किए लेकिन अन्य विद्रोहियों ने इस समझौते को नहीं माना। नगालैंड की समस्या का समाधान होना अब भी बाकी है।

बाहरी लोगों के खिलाफ़ आंदोलन

पूर्वोत्तर में बड़े पैमाने पर आप्रवासी आए हैं। इससे एक ख़ास समस्या पैदा हुई है। स्थानीय जनता इन्हें 'बाहरी' समझती है और 'बाहरी' लोगों के खिलाफ़ उसके मन में गुस्सा है। भारत के दूसरे राज्यों अथवा किसी अन्य देश से

मिजो नेशनल फ्रंट द्वारा युद्ध विराम की घोषणा

आए लोगों को यहाँ की जनता रोजगार के अवसरों और राजनीतिक सत्ता के एतबार से एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखती है। स्थानीय लोग बाहर से आए लोगों के बारे में मानते हैं कि ये लोग यहाँ की जमीन हथिया रहे हैं। पूर्वोत्तर के कई राज्यों में इस मसले ने राजनीतिक रंग ले लिया है और कभी-कभी इन बातों के कारण हिंसक घटनाएँ भी होती हैं।

1979 से 1985 तक चला असम आंदोलन बाहरी लोगों के खिलाफ चले आंदोलनों का सबसे अच्छा उदाहरण है। असमी लोगों को संदेह था कि बांग्लादेश से आकर बहुत-सी मुस्लिम आबादी असम में बसी हुई है। लोगों के मन में यह भावना घर कर गई थी कि इन विदेशी लोगों को पहचानकर उन्हें अपने देश नहीं भेजा गया तो स्थानीय असमी जनता अल्पसंख्यक हो जाएगी। कुछ आर्थिक मसले भी थे। असम में तेल, चाय और कोयले जैसे प्राकृतिक संसाधनों की मौजूदगी के बावजूद व्यापक गरीबी थी। यहाँ की जनता ने माना कि असम के प्राकृतिक संसाधन बाहर भेजे जा रहे हैं और असमी लोगों को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है।

1979 में ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन (आसू-AASU) ने विदेशियों के विरोध में एक आंदोलन चलाया। 'आसू' एक छात्र-संगठन था और इसका जुड़ाव किसी भी राजनीतिक दल से नहीं था। 'आसू' का आंदोलन अवैध आप्रवासी, बंगाली और अन्य लोगों के दबदबे तथा मतदाता सूची में लाखों आप्रवासियों के नाम दर्ज कर लेने के खिलाफ था। आंदोलन की माँग थी कि 1951 के बाद जितने भी लोग असम में आकर बसे हैं उन्हें असम से बाहर भेजा जाए। इस आंदोलन ने कई नए तरीकों को आजमाया और असमी जनता के हर तबके का समर्थन हासिल किया। इस आंदोलन को पूरे असम में समर्थन मिला। आंदोलन के दौरान हिंसक और त्रासद घटनाएँ भी हुईं। बहुत-से लोगों को जान गंवानी पड़ी और धन-संपत्ति का नुकसान हुआ। आंदोलन के दौरान रेलगाड़ियों की आवाजाही तथा बिहार स्थित बरौनी तेलशोधक कारखाने को तेल-आपूर्ति रोकने की भी कोशिश की गई।

छह साल की सतत अस्थिरता के बाद राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार ने 'आसू' के नेताओं से बातचीत शुरू की। इसके परिणामस्वरूप 1985 में एक समझौता हुआ। समझौते के अंतर्गत तय किया गया कि जो लोग बांग्लादेश-युद्ध के दौरान अथवा उसके बाद के सालों में असम आए हैं, उनकी पहचान की जाएगी और उन्हें वापस भेजा जाएगा। आंदोलन की कामयाबी के बाद 'आसू' और असम गण संग्राम परिषद् ने साथ मिलकर अपने को एक क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टी के रूप में संगठित किया। इस पार्टी का नाम 'असम गण परिषद्' रखा गया। असम गण परिषद् 1985 में इस वायदे के साथ सत्ता में आई थी कि विदेशी लोगों की समस्या को सुलझा लिया जाएगा और एक 'स्वर्णिम असम' का निर्माण किया जाएगा।

असम-समझौते से शांति कायम हुई और प्रदेश की राजनीति का चेहरा भी बदला लेकिन 'आप्रवास' की समस्या का समाधान नहीं हो पाया। 'बाहरी' का मसला अब भी असम और पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की, राजनीति में एक जीवंत मसला है। यह समस्या त्रिपुरा में ज्यादा गंभीर है क्योंकि यहाँ के मूल निवासी खुद अपने ही प्रदेश में अल्पसंख्यक बन गए हैं। मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के लोगों में भी इसी भय के कारण चकमा शरणार्थियों को लेकर गुस्सा है।



अंगमी जापू फिजो (1904-1990) :
नगालैंड की आजादी के आंदोलन के नेता; नगा नेशनल काउंसिल के अध्यक्ष; भारत सरकार के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत की; 'भूमिगत' हुए; पाकिस्तान में शरण ली; जीवन के अंतिम तीन दशक ब्रिटेन में गुजारे।

मुझे यह 'भीतरी' और 'बाहरी' का मामला कभी समझ में नहीं आता। कोई आदमी कहीं पहले चला गया हो तो वही दूसरों को 'बाहरी' समझने लगता है।



नई दुनिया

✓ असम समझौता : उल्लेखनीय उपलब्धि

असम के बारे में केंद्र सरकार तथा असम के छात्र संगठनों के बीच घड़त तारीकी को तबू के हुए समझौते से असम का छः वर्ष पुराना आंदोलन समाप्त हो गया है। असम के विभिन्न छात्र संगठनों द्वारा संचालित सरकार विरोधी आंदोलन के दौरान साढ़े तीन हजार से अधिक ज़ाने गई और अरको मरणों की आधिक हानि हुई। बारह अप्रैल १९८० को जब तत्कालीन प्रधानमंत्री शीमती इंदिरा गांधी मुम्बईती गई थी तो छात्र ने १९६७ को आधार वर्ष मानकर विदेशी नागरिकों की समस्या के समाधान के तैयार हो गए थे। पर प्रधानमंत्री तब १९७१ को आधार वर्ष गाने जाने पर अड़ी रहें। फलस्वरूप सरकार तथा छात्र संगठनों के बीच बातचीत टूट गई। शीमती गांधी ने असम समस्या को सलजाने के लिए चार मूहमिषियों— (वैजनाथ, श्री आर. बेंकटमन, श्री प्रकाशचंद सेठी तथा श्री नरसिंहराय) की सेवाओं का उपयोग किया। किंतु, अविश्वास और कठोर पैतरी का जो वातावरण बना था, वह ऐसा नहीं था कि कोई समझौता हो पाता।

भी राजीव गांधी के काम करने की शैली इस
अर्थ में लड़ है कि वह बहुत ही विपक्षी दल का
विश्रवास प्राप्त लेती है। श्री गांधी रिवाजों देने का
तैयार रहते हैं, जिसके फलस्वरूप सामने वाला
पक्ष भी रिवाजों देकर समझौता करने को तैयार
हो जाता है। केंद्र सरकार के गृह सचिव श्री अजर-
थो, प्रधान ने असम के छात्र नेताओं के साथ
वृत्तिवादी बातचीत कर सहमति का आधार
तैयार किया। गृहमंत्री श्री एस. बी. चेलूषा ने
अंतिम दौर में बातचीत में भाग लिया। कुछ
एककदों के बाद प्रधानमंत्री राजीव गांधी के
हस्तक्षेप से छात्रों को समझौते के लिए राजी किया
जा सका और इस मुभी समझौते पर हस्ताक्षर हो
गया।

समझौते को हमने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी मामलों में केंद्र सरकार तथा छान मछलों, 'आर्य' तथा 'अहिंसक असम गण संघर्ष परिषद' के नेताओं, दोनों ने एक-दूसरे को उल्लेखनीय रियायतें दी हैं। इसलिए यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पंद्रह अक्षर का असम समझौता किसी पक्ष विशेष की जीत या किसी पक्ष विशेष की हार है। असम समझौता एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है, जिसका श्रेय भारत के युवा पीढ़ियों की प्राचीन वादियों को जाता है। असम में निर्दोष छान मछलों के नेता भी अर्द्धांग के पात्र हैं। किंतु इन विवेक और सीधों का परिचय देना है अपना छ. यदि प्रधाना ज्ञानोत्थान समाप्त करने को जानें हो गए हैं। प्रधानमंत्री की नीति में असम समझौते में एक और बड़ा जोड़ दिया है। अभी २४ अक्षर की ही अंतिम पंजाब की सातवर्षा रूप से

दिन बाद ही अनाथ बासवी के नाम से पुकारी जाने वाली असम की समस्या का समाधान होकर ही राजीव गांधी ने अपूर्व समाधानकर्ता का विशेषण अर्जित कर लिया है।

समझौते के अनुसार विदेशी नागरिकों की पहचान करने के लिए १ जनवरी १९६६ को आधार वर्ष माना गया है। इस तिथि के पहले आए विदेशियों को निमग्नसम्पत्त मान लिया जाएगा। एक अनुमान के अनुसार १९६१ और १९६५ के बीच ही लगभग पाँच लाख विदेशी पूर्वी पाकिस्तान से असम राज्य में आए थे। १ जनवरी १९६६ तथा २४ मार्च १९७१ के बीच अलग में अनाई के विदेशी विदेशियों को।

जिन
के
अ
य
र
आधिकार
रुप से असम में दाखिल होना
(मुख्यतः बंगलादेशियों) को असम के बाहर
निकाल दिया जाएगा।

समझौते के तहत भारत से लगे हुए

Cheers greet Assam pact announcement

Students of P. N. S. College, Guwahati, who led the rally, were seen with the Assam Sahasra Shiksha Yojana logo on their shirts. The rally was held in the morning of the 1st day of the Assam Sahasra Shiksha Yojana.

रूप में असम में दाखिल होना
(मुख्यतः बंगलादेशियों) को असम के बाहर
निकाल दिया जाएगा।

Amul
Safer tea times

विकास, संस्कृति
के लिए केंद्र है
आवाधान भी स
संसाधन को

संसद को ३
और आम जनता
किया है। जैसे
समझाते के साथ
वैसे ही इस सम
ग्रहण की है। इ
किया है कि श्री
की कोई समस्या
जा सके। कहा
के समझाते ने
और प्रगति के
हीतना दिया है
कि समझाते
ईमानदारी, दु

... और अतः मैं एक वजह
 वर प्रवेश में आता हूँ।
 मैं एक ही गतिविधि पर।

जि अरु की गति

	वोट	प्रतिशत
पंजाब	25	60
हरियाणा	3	18
दिल्ली	12	15
मिज़ोरम	9	13

	# पाठक
पंजाब	25 60
सर्जोलिंग	13 18
दिल्ली	12 15
मिनाटन	9 13

राष्ट्रपति: रामबाबू माथुर

क्या आजकल भी आपको इस तरह के समाचार सुनने को मिलते हैं! किन-किन क्षेत्रों में आप स्थिति को सामान्य होते हुए पाते हैं?

सिक्किम का विलय

आज़ादी के समय सिक्किम को भारत की 'शरणागति' प्राप्त थी। इसका मतलब यह कि तब सिक्किम भारत का अंग तो नहीं था लेकिन वह पूरी तरह संप्रभु राष्ट्र भी नहीं था। सिक्किम की रक्षा और विदेशी मामलों का जिम्मा भारत सरकार का था जबकि सिक्किम के आंतरिक प्रशासन की बागडोर यहाँ के राजा चोग्याल के हाथों में थी। यह व्यवस्था कारगर साबित नहीं हो पायी क्योंकि सिक्किम के राजा स्थानीय जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को संभाल नहीं सके। सिक्किम की आबादी में एक बड़ा हिस्सा नेपालियों का था। नेपाली मूल की जनता के मन में यह भाव घर कर गया कि चोग्याल अल्पसंख्यक लेपचा-भूटिया के एक छोटे-से अभिजन तबके का शासन उन पर लाद रहा है। चोग्याल विरोधी दोनों समुदाय के नेताओं ने भारत सरकार से मदद माँगी और भारत सरकार का समर्थन हासिल किया।

सिक्किम विधानसभा के लिए पहला लोकतांत्रिक चुनाव 1974 में हुआ और इसमें सिक्किम कांग्रेस को भारी विजय मिली। यह पार्टी सिक्किम को भारत के साथ जोड़ने के पक्ष में थी। सिक्किम विधानसभा ने पहले भारत के 'सह-प्रान्त' बनने की कोशिश की और इसके बाद 1975 के अप्रैल में एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में भारत के साथ सिक्किम के पूर्ण विलय की बात कही गई थी। इस प्रस्ताव के तुरंत बाद सिक्किम में जनमत-संग्रह कराया गया और जनमत-संग्रह में जनता ने विधानसभा के फैसले पर अपनी मुहर लगा दी। भारत सरकार ने सिक्किम विधानसभा के अनुरोध को तत्काल मान लिया और सिक्किम भारत का 22वाँ राज्य बन गया। चोग्याल ने इस फैसले को नहीं माना और उसके समर्थकों ने भारत सरकार पर साजिश रचने तथा बल-प्रयोग करने का आरोप लगाया। बहरहाल, भारत संघ में सिक्किम के विलय को स्थानीय जनता का समर्थन हासिल था। इस कारण यह मामला सिक्किम की राजनीति में कोई विभेदकारी मुद्दा न बन सका।



काजी लैंदुप दोरजी खांगसरपा (1904) : सिक्किम के लोकतंत्र बहाली आंदोलन के नेता; सिक्किम प्रजामंडल एवं सिक्किम राज्य कांग्रेस के संस्थापक; 1962 में सिक्किम नेशनल कांग्रेस की स्थापना; चुनावों में विजय के उपरान्त सिक्किम के भारत में विलय के समर्थक; एकीकरण के बाद सिक्किम कांग्रेस का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विलय।

रहीं। कभी कहीं से अलग राज्य बनाने की माँग उठी तो कहीं आर्थिक विकास का मसला उठा। कहीं-कहीं से अलगाववाद के स्वर उभरे। 1980 के बाद के दौर में भारत की राजनीति इन तनावों के घेरे में रही और समाज के विभिन्न तबकों की माँगों में पटरी बैठा पाने की लोकतांत्रिक राजनीति की क्षमता की परीक्षा हुई। हम इन उदाहरणों से क्या सबक सीख सकते हैं।

पहला और बुनियादी सबक तो यही है कि क्षेत्रीय आकांक्षाएँ लोकतांत्रिक राजनीति का अभिन्न अंग हैं। क्षेत्रीय मुद्दे की अभिव्यक्ति कोई असामान्य अथवा लोकतांत्रिक राजनीति के व्याकरण से बाहर की घटना नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन जैसे छोटे देश में भी स्कॉटलैंड, वेल्स और उत्तरी आयरलैंड में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ उभरी हैं। स्पेन में बास्क लोगों और श्रीलंका में तमिलों ने अलगाववादी माँग की। भारत एक बड़ा लोकतंत्र है और यहाँ विभिन्नताएँ भी बड़े पैमाने पर हैं। अतः भारत को क्षेत्रीय आकांक्षाओं से निपटने की तैयारी लगातार रखनी होगी।

दूसरा सबक यह है कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं को दबाने की जगह उनके साथ लोकतांत्रिक बातचीत का तरीका अपनाना सबसे अच्छा होता है। जरा अस्सी के दशक की तरफ़ नज़र दौड़ाएँ—पंजाब में उग्रवाद का जोर था; पूर्वोत्तर में समस्याएँ बनी हुई थीं; असम के छात्र आंदोलन कर रहे थे और कश्मीर घाटी में माहौल अशांत था।



राजीव गाँधी

(1944-1991) : 1984

से 1989 के बीच भारत के प्रधानमंत्री; इंदिरा गाँधी के पुत्र; 1980 के बाद राजनीति में सक्रिय; पंजाब के आतंकवादियों, मिजो-विद्रोहियों तथा असम में छात्र संघ से समझौता; खुली अर्थव्यवस्था एवं कंप्यूटर प्रौद्योगिकी के हिमायती; सिहली-तमिल समस्या को सुलझाने के लिए भारतीय शांति सेना को श्रीलंका की सरकार के अनुरोध पर श्रीलंका भेजा; संदिग्ध एलटीटीई आत्मघाती द्वारा हत्या।

इन मसलों को सरकार ने कानून-व्यवस्था की गड़बड़ी का साधारण मामला मानकर पूरी गंभीरता दिखाई। बातचीत के जरिए सरकार ने क्षेत्रीय आंदोलनों के साथ समझौता किया। इससे सौहार्द का माहौल बना और कई क्षेत्रों में तनाव कम हुआ। मिजोरम के उदाहरण से पता चलता है कि राजनीतिक सुलह के जरिए अलगाववाद की समस्या से बड़े कारगर तरीके से निपटा जा सकता है।

तीसरा सबक है सत्ता की साझेदारी के महत्व को समझना। सिर्फ लोकतांत्रिक ढाँचा खड़ा कर लेना ही काफी नहीं है। इसके साथ ही विभिन्न क्षेत्रों के दलों और समूहों को केंद्रीय राजव्यवस्था में हिस्सेदार बनाना भी जरूरी है। ठीक इसी तरह यह कहना भी नाकफ़ी है कि किसी प्रदेश अथवा क्षेत्र को उसके मामलों में स्वायत्तता दी गई है। क्षेत्रों को मिलाकर ही पूरा देश बनता है। इसी कारण देश की नियति के निर्धारण में क्षेत्रों की बातों को वजन दिया जाना चाहिए। यदि राष्ट्रीय स्तर के निर्णयों में क्षेत्रों को वजन नहीं दिया गया तो उनमें अन्याय और अलगाव का बोध पनपेगा।

चौथा सबक यह है कि आर्थिक विकास के एतबार से विभिन्न इलाकों के बीच असमानता हुई तो पिछड़े क्षेत्रों को लगेगा कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है। भारत में आर्थिक विकास प्रक्रिया का एक तथ्य क्षेत्रीय असंतुलन भी है। ऐसे में स्वाभाविक है कि पिछड़े प्रदेशों अथवा कुछ प्रदेशों के पिछड़े इलाकों को लगे कि उनके पिछड़ेपन को प्राथमिकता के आधार पर दूर किया जाना चाहिए। वे यह भी कह सकते हैं कि भारत सरकार ने जो नीतियाँ अपनायी हैं उसी के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय असंतुलन पैदा हुआ है। अगर कुछ राज्य गरीब रहें और बाकी तेजी से प्रगति करें तो क्षेत्रीय असंतुलन पैदा होगा। साथ ही, अंतर्प्रान्तीय अथवा अंतर्क्षेत्रीय आप्रवास में भी बढ़ोत्तरी होगी।

सबसे आखिरी बात यह कि इन मामलों से हमें अपने संविधान निर्माताओं की दूरदृष्टि का पता चलता है। वे विभिन्नताओं को लेकर अत्यंत सजग थे। हमारे संविधान के प्रावधान इस बात के साक्ष्य हैं। भारत ने जो संघीय प्रणाली अपनायी है वह बहुत लचीली है। अगर अधिकतर राज्यों के अधिकार समान हैं तो जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों के लिए विशेष प्रावधान भी किए गए हैं। संविधान की छठी अनुसूची में विभिन्न जनजातियों को अपने आचार-व्यवहार और पारंपरिक नियमों को संरक्षित रखने की पूर्ण स्वायत्तता दी गई है। पूर्वोत्तर की कुछ जटिल राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में ये प्रावधान बड़े निर्णायक साबित हुए।

भारत का संवैधानिक ढाँचा ज्यादा लचीला और सर्वसमावेशी है। जिस तरह की चुनौतियाँ भारत में पेश आयीं वैसी कुछ दूसरे देशों में भी आयी लेकिन भारत का संवैधानिक ढाँचा अन्य देशों के मुकाबले भारत को विशिष्ट बनाता है। क्षेत्रीय आकांक्षाओं को यहाँ अलगाववाद की राह पर जाने का मौका नहीं मिला। भारत की राजनीति ने यह स्वीकार किया है कि क्षेत्रीयता, लोकतांत्रिक राजनीति का अभिन्न अंग है।

गोवा की मुक्ति

हालाँकि 1947 में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का खात्मा हो गया था लेकिन पुर्तगाल ने गोवा, दमन और दीव से अपना शासन हटाने से इनकार कर दिया। यह क्षेत्र सोलहवीं सदी से ही औपनिवेशिक शासन में था। अपने लंबे शासनकाल में पुर्तगाल ने गोवा की जनता का दमन किया था। उसने यहाँ के लोगों को नागरिकों अधिकारों से वंचित रखा और बलात् धर्म-परिवर्तन कराया। आजादी के बाद भारत सरकार ने बड़े धैर्यपूर्वक पुर्तगाल को गोवा से अपना शासन हटाने पर रजामंद करने की कोशिश की। गोवा में आजादी के लिए एक मजबूत जन आंदोलन चला। इस आंदोलन को महाराष्ट्र के समाजवादी सत्याग्रहियों ने बल प्रदान किया। आखिरकार, दिसंबर 1961 में भारत सरकार ने गोवा में अपनी सेना भेजी। दो दिन की कार्रवाई में भारतीय सेना ने गोवा को मुक्त करा लिया। गोवा, दमन और दीव संघशासित प्रदेश।

जल्दी ही एक और समस्या उठ खड़ी हुई। महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी के नेतृत्व में एक तबके ने माँग रखी कि गोवा को महाराष्ट्र में मिला दिया जाए क्योंकि यह मराठी-भाषी क्षेत्र है। बहरहाल, बहुत-से गोवावासी गोवानी पहचान और संस्कृति की स्वतंत्र अहमियत बनाए रखना चाहते थे। कोंकणी भाषा के लिए भी इनके मन में आग्रह था। इस तबके का नेतृत्व यूनाइटेड गोअन पार्टी (यूजीपी) ने किया। 1967 के जनवरी में केंद्र सरकार ने गोवा में एक विशेष जनमत सर्वेक्षण कराया। इसमें गोवा के लोगों से पूछा गया कि आप लोग महाराष्ट्र में शामिल होना चाहते हैं अथवा अलग बने रहना चाहते हैं। इस मसले पर सरकार ने जनता की इच्छा को जानने के लिए जनमत-संग्रह जैसी प्रक्रिया अपनायी थी। अधिकतर लोगों ने महाराष्ट्र से अलग रहने के पक्ष में मत डाला। इस तरह गोवा संघशासित प्रदेश बना रहा। अंततः 1987 में गोवा भारत संघ का एक राज्य बना।



साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया, 21 अप्रैल 1954

प्रश्नावली

1. निम्नलिखित में मेल करें:

अ	ब
क्षेत्रीय आकांक्षाओं की प्रकृति	राज्य
(क) सामाजिक-धार्मिक पहचान के आधार पर राज्य का निर्माण	(i) नगालैंड/मिजोरम
(ख) भाषायी पहचान और केंद्र के साथ तनाव	(ii) झारखंड/छत्तीसगढ़
(ग) क्षेत्रीय असंतुलन के फलस्वरूप राज्य का निर्माण	(iii) पंजाब
(ख) आदिवासी पहचान के आधार पर अलगाववादी माँग	(iv) तमिलनाडु

- पूर्वोत्तर के लोगों की क्षेत्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कई रूपों में होती है। बाहरी लोगों के खिलाफ आंदोलन, ज्यादा स्वायत्तता की माँग के आंदोलन और अलग देश बनाने की माँग करना-ऐसी ही कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं। पूर्वोत्तर के मानचित्र पर इन तीनों के लिए अलग-अलग रंग भरिए और दिखाइए कि किस राज्य में कौन-सी प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल है।
- पंजाब समझौते के मुख्य प्रावधान क्या थे? क्या ये प्रावधान पंजाब और उसके पड़ोसी राज्यों के बीच तनाव बढ़ाने के कारण बन सकते हैं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
- आनंदपुर साहिब प्रस्ताव के विवादास्पद होने के क्या कारण थे?
- जम्मू-कश्मीर की अंदरूनी विभिन्नताओं की व्याख्या कीजिए और बताइए कि इन विभिन्नताओं के कारण इस राज्य में किस तरह अनेक क्षेत्रीय आकांक्षाओं ने सर उठाया है।
- कश्मीर की क्षेत्रीय स्वायत्तता के मामले पर विभिन्न पक्ष क्या हैं? इनमें कौन-सा पक्ष आपको समुचित जान पड़ता है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।
- असम आंदोलन सांस्कृतिक अभिमान और आर्थिक पिछड़ेपन की मिली-जुली अभिव्यक्ति था। व्याख्या कीजिए।
- हर क्षेत्रीय आंदोलन अलगाववादी माँग की तरफ अग्रसर नहीं होता। इस अध्याय से उदाहरण देकर इस तथ्य की व्याख्या कीजिए।
- भारत के विभिन्न भागों से उठने वाली क्षेत्रीय मांगों से 'विविधता में एकता' के सिद्धांत की अभिव्यक्ति होती है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? तर्क दीजिए।
- नीचे लिखे अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

हजारिका का एक गीत...एकता की विजय पर है; पूर्वोत्तर के सात राज्यों को इस गीत में एक ही माँ की सात बेटियाँ कहा गया है... मेघालय अपने रास्ते गई... अरुणाचल भी अलग हुई और मिजोरम असम के द्वार पर दूल्हे की तरह दूसरी बेटी से ब्याह रचाने को खड़ा है... इस गीत का अंत असमी लोगों की एकता को बनाए रखने के संकल्प के साथ होता है

और इसमें समकालीन असम में मौजूद छोटी-छोटी कौमों को भी अपने साथ एकजुट रखने की बात कही गई है... करबी और मिजिंग भाई-बहन हमारे ही प्रियजन हैं।

—संजीव बरुआ

(क) लेखक यहाँ किस एकता की बात कह रहा है?

(ख) पुराने राज्य असम से अलग करके पूर्वोत्तर के कुछ राज्य क्यों बनाए गए?

(ग) क्या आपको लगता है कि भारत के सभी क्षेत्रों के ऊपर एकता की यही बात लागू हो सकती है? क्यों?



इस अध्याय में...

इस अध्याय में हम पिछले दो दशकों की भारतीय राजनीति का एक संक्षिप्त जायजा लेंगे। इस अवधि में कुछ जटिल किस्म के बदलाव आए। कई कारकों ने एक साथ मिलकर इस अवधि में अप्रत्याशित परिणाम दिए। राजनीति के इस नए दौर का पूर्वानुमान कर पाना असंभव था और अब भी इसे समझना बहुत कठिन है। इस दौर के बदलाव बड़े विवादास्पद हैं, क्योंकि इनके साथ संघर्ष के कुछ गहरे मसले जुड़े हुए हैं और हम सब अभी इन बदलावों से इतने दूर नहीं जा पाए हैं कि इनके स्वरूप को साफ़-साफ़ परख सकें। बहरहाल इस दौर के राजनीतिक बदलावों को लेकर हम कुछ बुनियादी सवाल कर सकते हैं:

- गठबंधन की राजनीति के उदय का हमारे लोकतंत्र पर क्या असर पड़ा है?
- मंडलीकरण क्या है? इसने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के स्वभाव को किन रूपों में बदला है?
- राजनीतिक लामबंदी के लिहाज से रामजन्मभूमि आंदोलन और बाबरी मस्जिद विध्वंस ने क्या विरासत छोड़ी है?
- नीतिगत मामलों पर एक सर्व-सहमति सी बन गई है—इसका राजनीतिक विकल्पों के चयन के लिहाज से क्या असर हुआ है?

यह अध्याय इन सवालों के जवाब नहीं देता। इस अध्याय में आपको कुछ ज़रूरी सूचनाएँ दी गई हैं और कुछ तरीके बताए गए हैं, ताकि जब आप इस किताब को आखिर तक पढ़ लें, तो आप ये सवाल पूछ सकें और इनके जवाब तलाश सकें। ये सवाल राजनीतिक लिहाज से संवेदनशील हैं, लेकिन मात्र इसी कारण से हम इन सवालों को पूछने से बच नहीं सकते। आज़ादी के बाद की भारतीय राजनीति के इतिहास को आखिर पढ़ने का मकसद ही यही है कि हम अपने वर्तमान को समझ सकें।

1990 के दशक में विभिन्न राजनीतिक दलों में बड़ी अफ़रा-तफ़री मची। इस कार्टून की ही तरह कइयों को यह सब ऊँची चरखी की सवारी जैसा जान पड़ा। यहाँ कार्टून में राजीव गाँधी, वी.पी. सिंह, एल.के. आडवाणी, चंद्रशेखर, ज्योति बसु, एन.टी. रामाराव, देवीलाल, पी.के. महंत और के. करुणानिधि को चरखी पर सवार दिखाया गया है।



भारतीय राजनीति : नए बदलाव

1990 का दशक

आपने पिछले अध्याय में पढ़ा था कि इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने। इंदिरा गाँधी की हत्या के कुछ दिनों बाद ही 1984 में लोकसभा के चुनाव हुए। राजीव गाँधी की अगुवाई में कांग्रेस को इस चुनाव में भारी विजय मिली। 1980 के दशक के आखिर के सालों में देश में ऐसे पाँच बड़े बदलाव आए, जिनका हमारी आगे की राजनीति पर गहरा असर पड़ा।

पहला, इस दौर की एक महत्वपूर्ण घटना 1989 के चुनावों में कांग्रेस की हार है। जिस पार्टी ने 1984 में लोकसभा की 415 सीटें जीती थीं वह इस चुनाव में महज 197 सीटें ही जीत सकी। 1991 में एक बार फिर मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस इस बार अपना आँकड़ा सुधारते हुए सत्ता में आयी। बहरहाल, 1989 में ही उस परिघटना की समाप्ति हो गई थी, जिसे राजनीति विज्ञानी अपनी खास शब्दावली में 'कांग्रेस प्रणाली' कहते हैं। यह बात तो प्रकट ही है कि कांग्रेस एक महत्वपूर्ण पार्टी के रूप में कायम रही और 1989 के बाद भी देश पर किसी अन्य पार्टी के बजाय उसका शासन ज्यादा दिनों तक रहा। लेकिन, दलीय प्रणाली के भीतर जैसी प्रमुखता इसे पहले के दिनों में हासिल थी, वैसी अब न रही।



कांग्रेस नेता सीताराम केसरी ने देवगौड़ा की संयुक्त मोर्चा सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया।

दूसरा बड़ा बदलाव राष्ट्रीय राजनीति में 'मंडल मुद्दे' का उदय था। 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा की नयी सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किया। इन सिफारिशों के अंतर्गत प्रावधान किया गया कि केंद्र सरकार की नौकरियों में 'अन्य पिछड़ा वर्ग' को आरक्षण दिया जाएगा। सरकार के इस फैसले से देश के विभिन्न भागों में मंडल-विरोधी हिंसक प्रदर्शन हुए। अन्य पिछड़ा वर्ग को मिले आरक्षण के समर्थक और विरोधियों के बीच चले विवाद को 'मंडल मुद्दा' कहा जाता है। इसने 1989 के बाद की राजनीति में अहम भूमिका निभाई।

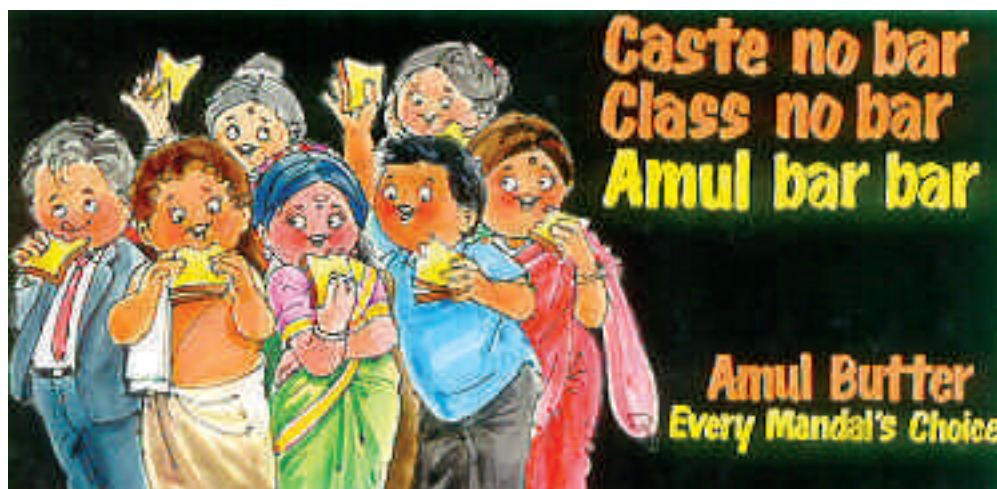
तीसरा, विभिन्न सरकारों ने इस दौर में जो आर्थिक नीतियाँ अपनायीं, वे बुनियादी तौर पर बदल चुकी थीं। इसे ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम अथवा नए आर्थिक सुधार के नाम से जाना

मैं
सोचती हूँ -
काश! कांग्रेस अपनी
पुरानी महिमा को
फिर से हासिल कर
पाती!





मैं पक्के तौर पर यह जानना चाहता हूँ कि इस घटना के दूरगामी परिणाम हुए!



मंडलीकरण पर एक प्रतिक्रिया

गया। इनकी शुरुआत राजीव गाँधी की सरकार के समय हुई और 1991 तक ये बदलाव बड़े पैमाने पर प्रकट हुए। आजादी के बाद से अब तक भारतीय अर्थव्यवस्था जिस दिशा में चलती आई थी, वह इन नए आर्थिक सुधारों के कारण मूलगामी अर्थों में बदल गई। नयी आर्थिक नीतियों की विभिन्न आंदोलनों और संगठनों की तरफ से भरपूर आलोचना हुई। बहरहाल इस अवधि में जितनी सरकारें बनीं, सबने नयी आर्थिक नीति पर अमल जारी रखा।

चौथे, घटनाओं के एक सिलसिले की परिणति अयोध्या स्थित एक विवादित ढाँचे (बाबरी मस्जिद के रूप में प्रसिद्ध) के विध्वंस के रूप में हुई। यह घटना 1992 के दिसंबर महीने

साधार: आर. के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया



अगर हर सरकार एक-सी नीति पर अमल करे, तो मुझे नहीं लगता कि इससे राजनीति में कोई बदलाव आएगा।



तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह और प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को 'नयी आर्थिक नीति' के शुरुआती दौर में दिखाता एक कार्टून।

में घटी। इस घटना ने देश की राजनीति में कई परिवर्तनों को जन्म दिया और उनका प्रतीक बनी। इस घटना से भारतीय राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता पर बहस तेज़ हो गई। इन बदलावों का संबंध भाजपा के उदय और हिंदुत्व की राजनीति से है।

इस सिलसिले की आखिरी बात यह है कि मई 1991 में राजीव गाँधी की हत्या कर दी गई और इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। राजीव गाँधी चुनाव

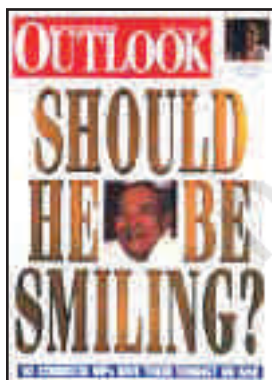


पता नहीं, यह राजनीतिक दलों को कैसे प्रभावित करेगा?



बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर चिंता जाहिर करता एक विज्ञापन

अभियान के सिलसिले में तमिलनाडु के दौरे पर थे। तभी लिट्टे से जुड़े श्रीलंकाई तमिलों ने उनकी हत्या कर दी। 1991 के चुनावों में कांग्रेस सबसे बड़ी विजयी पार्टी के रूप में सामने आयी। राजीव गाँधी की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी ने नरसिम्हा राव को प्रधानमंत्री चुना।



25 अक्टूबर 1995



1 मई 1996



20 अगस्त 2001



25 अक्टूबर 2004

कांग्रेस नेतृत्व कई बार सुर्खियों में छाया रहा

गठबंधन का युग

1989 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी की हार हुई थी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि किसी दूसरी पार्टी को इस चुनाव में बहुमत मिल गया था। कांग्रेस अब भी लोकसभा में सबसे बड़ी पार्टी थी, लेकिन बहुमत में न होने के कारण उसने विपक्ष में बैठने का फैसला किया। राष्ट्रीय मोर्चे को (यह मोर्चा जनता दल और कुछ अन्य क्षेत्रीय दलों को मिलाकर बना था) परस्पर विरुद्ध दो राजनीतिक समूहों - भाजपा और वाम मोर्चे - ने समर्थन दिया। इस समर्थन के आधार पर राष्ट्रीय मोर्चा ने एक गठबंधन सरकार बनायी, लेकिन इसमें भाजपा और वाम मोर्चे ने शिरकत नहीं की।

वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को वाम मोर्चा (यहाँ प्रतीक रूप में ज्योति बसु) और भाजपा (यहाँ प्रतीक रूप में एल.के. आडवाणी) ने समर्थन दिया था।



साभार: सुधीर तैलंग/एच.टी. बुक ऑफ कार्टून्स

कांग्रेस का पतन

कांग्रेस की हार के साथ भारत की दलीय व्यवस्था से उसका दबदबा खत्म हो गया। अध्याय पाँच में कांग्रेस प्रणाली की पुनर्स्थापना की चर्चा की गई थी। क्या आपको यह चर्चा याद है। 1960 के दशक के अंतिम सालों में कांग्रेस के एकछत्र राज को चुनौती मिली थी, लेकिन इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारतीय राजनीति पर अपना प्रभुत्व फिर से कायम किया। नब्बे के दशक में कांग्रेस की अग्रणी हैसियत को एक बार फिर चुनौती मिली। बहरहाल इसका मतलब यह नहीं है कि कांग्रेस की जगह कोई दूसरी पार्टी प्रमुख हो गई।

इस दौर में कांग्रेस के दबदबे के खात्मे के साथ बहुदलीय शासन-प्रणाली का युग शुरू हुआ। यह तो निश्चित ही है कि अपने देश में अनेक पार्टियाँ चुनाव लड़ती आयी हैं। हमारी संसद में हमेशा कई दलों के सांसद रहे हैं। 1989 के बाद एक नयी बात देखने में आयी। अब कई पार्टियाँ इस तरह उभरीं कि किसी एक-दो पार्टी को ही अधिकाँश वोट या सीट नहीं मिल पाते थे। इसका मतलब यह भी हुआ कि 1989 के बाद से लोकसभा के चुनावों में कभी भी किसी एक पार्टी को 2014 तक पूर्ण बहुमत नहीं मिला। इस बदलाव के साथ केंद्र में गठबंधन सरकारों का दौर शुरू हुआ और क्षेत्रीय पार्टियों ने गठबंधन सरकार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

अपने माता-पिता से 1990 के दशक के बाद से हुई घटनाओं के बारे में पूछें और इस समय की उनकी यादों को कुरेदें। उनसे पूछिए कि उस दौर की महत्वपूर्ण घटनाओं के बारे में वे क्या सोचते हैं। समूह बनाकर एक साथ बैठिए और अपने माता-पिता द्वारा बतायी गई घटनाओं की एक व्यापक सूची बनाइए। देखिए कि किस घटना का जिक्र ज्यादा आया है। फिर, इस अध्याय में जिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण बदलावों का जिक्र आया है उनसे तुलना कीजिए। आप इस बात पर चर्चा कर सकते हैं कि कुछ घटनाएँ क्यों कुछ लोगों के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण थीं, जबकि दूसरों के लिए नहीं।

खोज-बीन

गठबंधन की राजनीति

नब्बे का दशक कुछ ताकतवर पार्टियों और आंदोलनों के उभार का साक्षी रहा। इन पार्टियों और आंदोलनों ने दलित तथा पिछड़े वर्ग (अन्य पिछड़ा वर्ग या ओबीसी) की नुमाइंदगी की। इन दलों में से अनेक ने क्षेत्रीय आकांक्षाओं की भी दमदार दावेदारी की। 1996 में बनी संयुक्त मोर्चे की सरकार में इन पार्टियों ने अहम किरदार निभाया। संयुक्त मोर्चा 1989 के राष्ट्रीय मोर्चे के ही समान था, क्योंकि इसमें भी जनता दल और कई क्षेत्रीय पार्टियाँ शामिल थीं। इस बार भाजपा ने सरकार को समर्थन नहीं दिया। संयुक्त मोर्चा की सरकार को कांग्रेस का समर्थन हासिल था। इससे पता चलता है कि राजनीतिक समीकरण किस कदर छुईमुई थे। 1989 में भाजपा और वाम मोर्चा दोनों ने राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार को समर्थन दिया था, क्योंकि ये दोनों कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे। इस बार वाममोर्चा ने गैर-कांग्रेसी सरकार को अपना समर्थन जारी रखा, लेकिन संयुक्त मोर्चा की सरकार को कांग्रेस पार्टी ने भी समर्थन दिया। दरअसल, कांग्रेस और वाममोर्चा दोनों इस बार भाजपा को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे।

बहरहाल इन्हें ज्यादा दिनों तक सफलता नहीं मिली और भाजपा ने 1991 तथा 1996 के चुनावों में अपनी स्थिति लगातार मजबूत की। 1996 के चुनावों में यह सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी। इस नाते भाजपा को सरकार बनाने का न्यौता मिला। लेकिन अधिकाँश दल, भाजपा की नीतियों के खिलाफ थे और इस वजह से भाजपा की सरकार लोकसभा में बहुमत हासिल नहीं कर सकी। आखिरकार भाजपा एक गठबंधन (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन-राजग)

के अगुआ के रूप में सत्ता में आयी और 1998 के मई से 1999 के जून तक सत्ता में रही। फिर 1999 के अक्टूबर में इस गठबंधन ने दोबारा सत्ता हासिल की। राजग की इन दोनों सरकारों में अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने। 1999 की राजग सरकार ने अपना निर्धारित कार्यकाल पूरा किया।

साभार: अजीत मैनन / इंडिया टुडे



एक पार्टी के प्रभुत्व के दौर से लेकर बहुदलीय गठबंधन प्रणाली तक के सफ़र पर एक कार्टूनिस्ट की नज़र

इस तरह 1989 के चुनावों से भारत में गठबंधन की राजनीति के एक लंबे दौर की शुरुआत हुई। इसके बाद से केंद्र में 11 सरकारें बनीं। ये सभी या तो गठबंधन की सरकारें थीं अथवा दूसरे दलों के समर्थन पर टिकी अल्पमत की सरकारें थीं जो इन सरकारों में शामिल नहीं हुए। इस नए दौर में कोई सरकार क्षेत्रीय पार्टियों की साझेदारी अथवा उनके समर्थन से ही बनायी जा सकती थी। यह बात 1989 के राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, 1996 और 1997 की संयुक्त मोर्चा सरकार, 1998 और 1999 की राजग, 2004 और 2009 की संप्रग सरकार पर समान रूप से लागू होती है। हालांकि, 2014 में यह प्रवृत्ति बदल गयी है।

आइए, अब तक जो हमने सीखा उसे इस बदलाव के साथ जोड़कर देखने की कोशिश करें। माना जा सकता है कि गठबंधन सरकारों का युग लंबे समय से जारी कुछ प्रवृत्तियों की परिणति है। पिछले कुछ दशकों से भारतीय समाज में गुपचुप बदलाव आ रहे थे और इन बदलावों ने जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया, वे भारतीय राजनीति को गठबंधन की सरकारों के युग की तरफ़ ले आयीं।

केंद्रीय सरकार 1989 के बाद



वर्तमान और पूर्व प्रधान मंत्रियों के बारे में अधिक जानकारी के लिए, देखें <http://pmindia.gov.in/hi>

नोट: यहाँ कुछ खाली स्थान छोड़ दिए गए हैं। इनमें आप किसी सरकार की मुख्य नीतियों, कामकाज और उन पर उठे विवाद की कुछ सूचनाएँ लिख सकते हैं।

दूसरे अध्याय में हमने पढ़ा था कि शुरुआती सालों में कांग्रेस खुद में ही एक गठबंधननुमा पार्टी थी। इसमें विभिन्न हित, सामाजिक समूह और वर्ग एक साथ रहते थे। इस परिघटना को 'कांग्रेस प्रणाली' कहा गया।

पाँचवें अध्याय में हम यह बात पढ़ चुके हैं कि 1960 के दशक से विभिन्न समूह कांग्रेस पार्टी से अलग होने लगे और इन्होंने अपनी खुद की पार्टी बनायी। हम इस बात पर भी गौर कर चुके हैं कि 1977 के बाद के सालों में कई क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ। इन सारे कारणों से कांग्रेस पार्टी कमजोर हुई, लेकिन कोई दूसरी पार्टी इस तरह से नहीं उभर पायी कि कांग्रेस का विकल्प बन सके।



अन्य पिछड़ा वर्ग का राजनीतिक उदय

इस अवधि का एक दूरगामी बदलाव था—अन्य पिछड़ा वर्ग का उदय। आप 'ओबीसी' शब्द से परिचित होंगे। इससे विचार-विवेचन की एक प्रशासनिक कोटि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' अथवा 'अदर बैकवर्ड क्लासेज्' का संकेत किया जाता है। यह अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति से अलग एक कोटि है, जिसमें शैक्षणिक और सामाजिक रूप से पिछड़े समुदायों की गणना की जाती है। इन समुदायों को 'पिछड़ा वर्ग' भी कहा जाता है। छठे अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि पिछड़ी जातियों के अनेक तबके कांग्रेस से दूर जा रहे थे। उनमें कांग्रेस के लिए समर्थन कम होता जा रहा था। ऐसे में गैर-कांग्रेसी दलों के लिए एक जगह पैदा हुई और इन दलों ने इस तबके का समर्थन हासिल किया। आपको याद होगा कि गैर-कांग्रेसी दलों के राजनीतिक अभ्युदय की अभिव्यक्ति 1977 की जनता पार्टी की सरकार के रूप में हुई। जनता पार्टी के कई घटक मसलन भारतीय क्रांतिदल और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का ग्रामीण इलाकों के अन्य पिछड़े वर्ग में ताकतवर जनाधार था।

‘मंडल’ का लागू होना

1980 के दशक में अन्य पिछड़ा वर्गों के बीच लोकप्रिय ऐसे ही राजनीतिक समूहों को जनता दल ने एकजुट किया। राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का फैसला किया। इससे अन्य पिछड़ा वर्ग की राजनीति को सुगठित रूप देने में मदद मिली। नौकरी में आरक्षण के सवाल पर तीखे वाद-विवाद हुए और इन विवादों से ‘अन्य पिछड़ा वर्ग’ अपनी पहचान को लेकर ज़्यादा सजग हुआ। जो इस तबके को लामबंद करना चाहते थे, उन्हें इसका फायदा हुआ। इस दौर में ऐसी अनेक पार्टियाँ आगे आयीं, जिन्होंने रोज़गार और शिक्षा के क्षेत्र में अन्य पिछड़ा वर्ग को बेहतर अवसर उपलब्ध कराने की माँग की। इन दलों ने सत्ता में ‘अन्य पिछड़ा वर्ग’ की हिस्सेदारी का सवाल भी उठाया। इन दलों का कहना था कि भारतीय समाज में अन्य पिछड़ा वर्ग का एक बड़ा हिस्सा है। इसे देखते हुए अन्य पिछड़ा वर्ग का शासन में समुचित प्रतिनिधित्व और सत्ता में समुचित मौजूदगी तय करना लोकतांत्रिक कदम होगा।



मंडल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने पर राजनीतिक माहौल सरगर्म हो उठा। जगह-जगह विरोध प्रदर्शन हुए।

मंडल आयोग

दक्षिण के राज्यों में अगर बहुत पहले से नहीं तो भी कम-से-कम 1960 के दशक से अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण का प्रावधान चला आ रहा था। बहरहाल, यह नीति उत्तर भारत के राज्यों में लागू नहीं थी। 1977-79 की जनता पार्टी की सरकार के समय उत्तर भारत में पिछड़े वर्ग के आरक्षण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर मजबूती से आवाज उठाई गई। बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर इस दिशा में अग्रणी थे। उनकी सरकार ने बिहार में 'ओबीसी' को आरक्षण देने के लिए एक नयी नीति लागू की। इसके बाद केंद्र सरकार ने 1978 में एक आयोग बैठाया। इसके जिम्मे पिछड़ा वर्ग की स्थिति को सुधारने के उपाय बताने का काम सौंपा गया। आजादी के बाद से यह दूसरा अवसर था, जब सरकार ने ऐसा आयोग नियुक्त किया। इसी कारण आधिकारिक रूप से इस आयोग को 'दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग' कहा गया। आमतौर पर इस आयोग को इसके अध्यक्ष बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल के नाम पर 'मंडल कमीशन' कहा जाता है।



बी.पी. मंडल (1918-1982):

1967-1970 तथा 1977-1979 में बिहार से सांसद चुने गए। दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग की अध्यक्षता की। इस आयोग ने अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने की सिफारिश की। बिहार के समाजवादी नेता। 1968 में डेढ़ माह तक बिहार के मुख्यमंत्री पद पर रहे। 1977 में जनता पार्टी में शामिल हुए।

मंडल आयोग का गठन भारतीय समाज के विभिन्न तबकों के बीच शैक्षिक और सामाजिक पिछड़ेपन की व्यापकता का पता लगाने और इन पिछड़े वर्गों की पहचान के तरीके बताने के लिए किया गया था। आयोग से यह भी अपेक्षा की गई थी कि वह इन वर्गों के पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय सुझाएगा। आयोग ने 1980 में अपनी सिफारिशें पेश कीं। इस वक्त तक जनता पार्टी की सरकार गिर चुकी थी। आयोग का मशविरा था कि पिछड़ा वर्ग को पिछड़ी जाति के अर्थ में स्वीकार किया जाए, क्योंकि अनुसूचित जातियों से इतर ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जिन्हें वर्ण व्यवस्था में 'नीच' समझा जाता है। आयोग ने एक सर्वेक्षण किया और पाया कि इन पिछड़ी जातियों की शिक्षा संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में बड़ी कम मौजूदगी है। इस वजह से आयोग ने इन समूहों के लिए शिक्षा संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत सीट आरक्षित करने की सिफारिश की। मंडल आयोग ने अन्य पिछड़ा वर्ग की स्थिति सुधारने के लिए कई और समाधान सुझाए जिनमें भूमि-सुधार भी एक था।

1990 के अगस्त में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों में से एक को लागू करने का फैसला किया। यह

सिफारिश केंद्रीय सरकार और उसके उपक्रमों की नौकरियों में अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने के संबंध में थी। सरकार के फैसले से उत्तर भारत के कई शहरों में हिंसक विरोध का स्वर उमड़ा। इस फैसले को सर्वोच्च न्यायालय में भी चुनौती दी गई और यह प्रकरण 'इंदिरा साहनी केस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सरकार के फैसले के खिलाफ अदालत में जिन लोगों ने अर्जी दायर की थी, उनमें एक नाम इंदिरा साहनी का भी था। 1992 के नवंबर में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार के निर्णय को सही ठहराते हुए अपना फैसला सुनाया। राजनीतिक दलों में इस फैसले के क्रियान्वयन के तरीके को लेकर कुछ मतभेद था। बहरहाल अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने के मसले पर देश के सभी बड़े राजनीतिक दलों में सहमति थी।

राजनीतिक परिणाम

1980 के दशक में दलित जातियों के राजनीतिक संगठनों का भी उभार हुआ। 1978 में 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी कम्युनिटीज़ एम्पलाइज़ फेडरेशन) का गठन हुआ। यह सरकारी कर्मचारियों का कोई साधारण-सा ट्रेड यूनियन नहीं था। इस संगठन ने 'बहुजन' यानी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यकों की राजनीतिक सत्ता की ज़बरदस्त तरफ़दारी की। इसी का परवर्ती विकास 'दलित-शोषित समाज संघर्ष समिति' है, जिससे बाद के समय में बहुजन समाज पार्टी का उदय हुआ। इस पार्टी की अगुआई कांशीराम ने की। बहुजन समाज पार्टी (बसपा) अपने शुरुआती दौर में एक छोटी पार्टी थी और इसे पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के दलित मतदाताओं का समर्थन हासिल था, लेकिन 1989 और 1991 के चुनावों में इस पार्टी को उत्तर प्रदेश में सफलता मिली। आज़ाद भारत में यह पहला मौका था, जब कोई राजनीतिक दल मुख्यतया दलित मतदाताओं के समर्थन के बूते ऐसी राजनीतिक सफलता हासिल कर पाया था।

दरअसल कांशीराम के नेतृत्व में बसपा ने अपने संगठन की बुनियाद व्यवहार केंद्रित नीतियों पर रखी थी। बहुजन (यानी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और धार्मिक अल्पसंख्यक) देश की आबादी में सबसे ज़्यादा हैं और संख्या के लिहाज़ से एक मजबूत राजनीतिक ताकत का रूप ले सकते हैं—बसपा के आत्मविश्वास को इस तथ्य से बड़ा बल मिला था। इसके बाद बसपा राज्य में एक बड़ी राजनीतिक ताकत के रूप में उभरी और उसने एक से ज़्यादा दफे यहाँ सरकार बनायी। इस पार्टी का सबसे ज़्यादा समर्थन दलित मतदाता करते हैं, लेकिन अब इसने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच अपना जनाधार बढ़ाना शुरू किया है। भारत के कई हिस्सों में दलित राजनीति और अन्य पिछड़ा वर्ग की राजनीति ने स्वतंत्र रूप धारण किया है और इन दोनों के बीच अकसर प्रतिस्पर्धा भी चलती है।



कांशीराम (1934–2006):

बहुजन समाज के सशक्तीकरण के प्रतिपादक और बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के संस्थापक; सामाजिक और राजनीतिक कार्य के लिए केंद्र सरकार की नौकरी से इस्तीफ़ा; बामसेफ; डीएस-4 और अंततः 1984 में बसपा की स्थापना; कुशाग्र रणनीतिकार; आप राजनीतिक सत्ता को सामाजिक समानता का आधार मानते थे; उत्तर भारत के राज्यों में दलित राजनीति के संगठनकर्ता

सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र

इस दौर में आया एक दूरगामी बदलाव धार्मिक पहचान पर आधारित राजनीति का उदय है। इसने धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के बारे में बहसों को सरगर्म किया। हमने छठे अध्याय में पढ़ा था कि आपातकाल के बाद भारतीय जनसंघ, जनता पार्टी में शामिल हो गया था। जनता पार्टी के पतन और बिखराव के बाद भूतपूर्व जनसंघ के समर्थकों ने 1980 में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) बनाई। शुरू-शुरू में भाजपा ने जनसंघ की अपेक्षा कहीं ज्यादा बड़ा राजनीतिक मंच अपनाया। इसने 'गाँधीवादी समाजवाद' को अपनी विचारधारा के रूप में स्वीकार किया। बहरहाल भाजपा को 1980 और 1984 के चुनावों में खास सफलता नहीं मिली। 1986 के बाद इस पार्टी ने अपनी विचारधारा में हिंदू राष्ट्रवाद के तत्वों पर जोर देना शुरू किया। भाजपा ने 'हिंदुत्व' की राजनीति का रास्ता चुना और हिंदुओं को लामबंद करने की रणनीति अपनायी।

'हिंदुत्व' अथवा 'हिंदूपन' शब्द को वी.डी. सावरकर ने गढ़ा था और इसको परिभाषित करते हुए उन्होंने इसे भारतीय (और उनके शब्दों में हिंदू) राष्ट्र की बुनियाद बताया। उनके कहने का आशय यह था कि भारत राष्ट्र का नागरिक वही हो सकता है, जो भारतभूमि को न सिर्फ 'पितृभूमि' बल्कि अपनी 'पुण्यभूमि' भी स्वीकार करे। हिंदुत्व के समर्थकों का तर्क है कि मजबूत राष्ट्र सिर्फ एकीकृत राष्ट्रीय संस्कृति की बुनियाद पर ही बनाया जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि भारत के संदर्भ में राष्ट्रीयता की बुनियाद केवल हिंदू संस्कृति ही हो सकती है।

1986 में ऐसी दो बातें हुईं, जो एक हिंदूवादी पार्टी के रूप में भाजपा की राजनीति के लिहाज से प्रधान हो गईं। इसमें पहली बात 1985 के शाहबानो मामले से जुड़ी है। यह मामला एक 62 वर्षीया तलाकशुदा मुस्लिम महिला शाहबानो का था। उसने अपने भूतपूर्व पति से गुजारा भत्ता हासिल करने के लिए अदालत में अर्जी दायर की थी। सर्वोच्च अदालत ने शाहबानो के पक्ष में फैसला सुनाया। पुरातनपंथी मुसलमानों ने अदालत के इस फैसले को अपने 'पर्सनल लॉ' में हस्तक्षेप माना। कुछ मुस्लिम नेताओं की माँग पर सरकार ने मुस्लिम महिला अधिनियम (1986) (तलाक से जुड़े अधिकारों) पास किया। इस अधिनियम के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को निरस्त कर दिया गया। सरकार के इस कदम का कई महिला संगठनों, मुस्लिम महिलाओं की जमात तथा अधिकांश बुद्धिजीवियों ने विरोध किया। भाजपा ने कांग्रेस सरकार के इस कदम की आलोचना की और इसे अल्पसंख्यक समुदाय को दी गई अनावश्यक रियायत तथा 'तुष्टिकरण' करार दिया।

अयोध्या विवाद

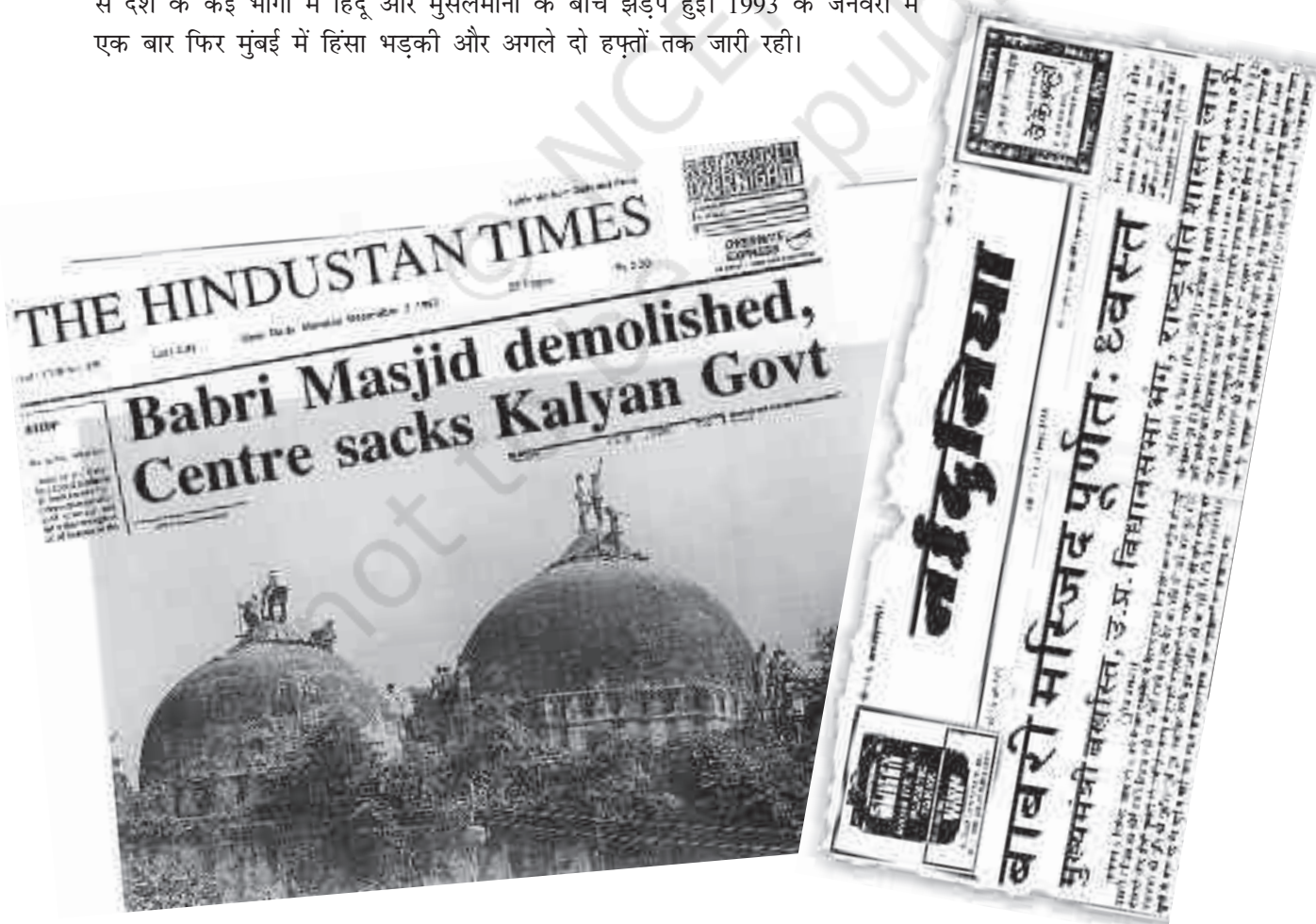
दूसरी बात का संबंध फैजाबाद जिला न्यायालय द्वारा फरवरी 1986 में सुनाए गए फैसले से है। इस अदालत ने फैसला सुनाया था कि बाबरी मस्जिद के अहाते का ताला खोल दिया जाना चाहिए, ताकि हिंदू यहाँ पूजा पाठ कर सकें, क्योंकि वे इस जगह को पवित्र मानते हैं। अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद को लेकर दशकों से विवाद चला आ रहा था। बाबरी मस्जिद का निर्माण अयोध्या में मीर बाकी ने करवाया था। यह मस्जिद 16वीं सदी में बनी थी। मीर बाकी मुगल शासक बाबर का सिपहसलार था। कुछ हिंदू मानते हैं कि भगवान राम की जन्मभूमि पर बने हुए एक राम मंदिर को तोड़कर उसी जगह पर यह मस्जिद बनवाई गई थी। इस विवाद ने

अदालती मुकदमे का रूप ले लिया और मुकदमा कई दशकों तक जारी रहा। 1940 के दशक के आखिरी सालों में मस्जिद में ताला लगा दिया गया, क्योंकि मामला अदालत के हवाले था।

जैसे ही बाबरी मस्जिद के अहाते का ताला खुला, वैसे ही दोनों पक्षों में लामबंदी होने लगी। अनेक हिंदू और मुस्लिम संगठन इस मसले पर अपने-अपने समुदाय को लामबंद करने की कोशिश में जुट गए। भाजपा ने इसे अपना बहुत बड़ा चुनावी और राजनीतिक मुद्दा बनाया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिंदू परिषद् जैसे कुछ संगठनों के साथ भाजपा ने लगातार प्रतीकात्मक और लामबंदी के कार्यक्रम चलाए। उसने जनसमर्थन जुटाने के लिए गुजरात स्थित सोमनाथ से उत्तर प्रदेश स्थित अयोध्या तक एक बड़ी 'रथयात्रा' निकाली।

विध्वंस और उसके बाद

जो संगठन राम मंदिर के निर्माण का समर्थन कर रहे थे, उन्होंने 1992 के दिसंबर में एक 'कारसेवा' का आयोजन किया। इसके अंतर्गत 'रामभक्तों' से आह्वान किया गया कि वे 'राम मंदिर' के निर्माण में श्रमदान करें। पूरे देश में माहौल तनावपूर्ण हो गया। अयोध्या में यह तनाव अपने चरम पर था। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को आदेश दिया कि वह 'विवादित स्थल' की सुरक्षा का पूरा इंतजाम करे। बहरहाल 6 दिसंबर 1992 को देश के विभिन्न भागों से लोग आ जुटे और इन लोगों ने मस्जिद को गिरा दिया। मस्जिद के विध्वंस की खबर से देश के कई भागों में हिंदू और मुसलमानों के बीच झड़प हुई। 1993 के जनवरी में एक बार फिर मुंबई में हिंसा भड़की और अगले दो हफ्तों तक जारी रही।



Ayodhya BJP's worst miscalculation: Vajpayee

Had warned Advani, but no place for moderates, lam



Demolition no cause for remorse: Advani

Special Correspondent
New Delhi

SHABAZIYA Janata Party leader L. K. Advani's self-confessed "hardness" appears in

desert, thirteenth situation in a mosque." According to him, the description of such a structure as a mosque was an exercise of the discretion of the government.

According to Mr. Advani, the pulling down of the structure was particularly unfortunate and the BJP was taken aback by it since it was not part of its scheme of things. "We are sorry for the incident since demolition was not our agenda," Mr. Advani clarified. He went on to add that he did

Violent reaction world over

DEC 1. — Muslim anger at the demolition of the Babri Masjid today attacked temples in Pakistan, Bangladesh, and England, set fire to an Indian Airlines office and damaged the Indian High Commission in Dhaka as the 50-member Organisation of Islamic Countries condemned the Ayodhya incident as "heinous".

office and attacked the Indian High Commission, its library, temples and shops and commercial establishments owned by the Hindus. PTL's Sult Chatterjee said from Islamabad that Government offices and business establishments would remain closed tomorrow. A PTL report from Islamabad said a special meeting of the

Federal Cabinet, chaired by the Prime Minister, Mr. Nawaz Sharif, was morning expressed "deep anguish and grave concern" over the Ayodhya incident and hoped that "the Government and the people of India will realize the grave implications of the unprecedented fundamentalism".

Radio Pakistan said Pakistan would appeal to the UN and the OIC to exert their influence

immediately there a themselves, spiritual and nearly sin and hatred. The cry was in the thought of Indians in UAR. They that the demolition of the mosque was

Inter says the



साभार: द पायनियर एवं द स्टेट्समैन

अयोध्या की घटना से कई बदलाव आए। उत्तर प्रदेश में सत्तासीन भाजपा की राज्य सरकार को केंद्र ने बर्खास्त कर दिया। इसके साथ ही दूसरे राज्यों में भी, जहाँ भाजपा की सरकार थी, राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। चूँकि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने इस बात का हलफ़नामा दिया था कि 'विवादित ढाँचे' की रक्षा की जाएगी। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय में उनके खिलाफ़ अदालत की अवमानना का मुकदमा दायर हुआ। भाजपा ने आधिकारिक तौर पर अयोध्या की घटना पर अफ़सोस जताया। केंद्र सरकार ने एक जाँच आयोग नियुक्त किया और उसे उन स्थितियों की जाँच करने के लिए कहा, जिनकी परिणति मस्जिद के विध्वंस के रूप में हुई थी। अधिकतर राजनीतिक दलों ने मस्जिद के विध्वंस की निंदा की और इसे धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों के विरुद्ध बताया। ऐसे में धर्मनिरपेक्षता पर गंभीर बहस चल पड़ी और हमारे सामने कुछ-कुछ वैसे ही सवाल आन खड़े हुए जैसे देश के बँटवारे के तुरंत बाद उभरे थे। बँटवारे के समय देश के सामने सवाल था: क्या भारत एक ऐसा देश बनने जा रहा है, जहाँ बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय का अल्पसंख्यकों पर दबदबा कायम होगा या व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म का हो भारत में उसे समान रूप से कानून की सुरक्षा तथा बराबरी के नागरिक अधिकार दिए जाएँगे? बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद भी देश में यही सवाल एक बार फिर-से मुखर हो उठे।

“ इन कार्यवाहियों से उन विनाशकारी घटनाओं की अनुगूँज सुनाई देती है, जिनकी परिणति 6 दिसंबर 1992 के दिन अयोध्या स्थित रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद के विवादित ढाँचे के ध्वंस में हुई थी। हज़ारों निर्दोष नागरिकों ने जान गँवायी, धन-संपत्ति का भारी नुकसान हुआ और इससे भी भारी क्षति तो यह हुई कि इस महान भूमि की छवि को अंतर्राष्ट्रीय फ़लक पर धक्का पहुँचा कि यहाँ विभिन्न समुदायों के बीच सहिष्णुता, विश्वास और भाईचारे की महान परंपरा का पालन-संरक्षण किया जाता रहा है।

यह दुख की बात है कि एक राजनीतिक दल के नेता और मुख्यमंत्री को अदालत की अवमानना के अभियोग का सामना करना पड़ रहा है, लेकिन ऐसा कानून की महिमा को बनाए रखने के लिए किया गया है। हम उसे अदालत की अवमानना का दोषी करार देते हैं। चूँकि इस ‘अवमानना’ से ऐसे बड़े मुद्दे जुड़े हैं, जिनका असर हमारे राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने की बुनियाद पर पड़ता है, इसलिए हम उसे एक दिन के प्रतीकात्मक कारावास का दंड भी देते हैं।

मुख्य न्यायाधीश वेंकटचेलैया और न्यायमूर्ति जी.एन. रे (सर्वोच्च न्यायालय)

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने राष्ट्रीय एकता परिषद् के सामने वायदा किया था कि ‘रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद’ ढाँचे की रक्षा की जाएगी। इस वायदा खिलाफ़ी से जुड़े एक मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला।

मो. असलम बनाम भारत संघ, 28 अक्टूबर 1994

इसी अवधि में चुनावी उद्देश्य के लिए धार्मिक भावनाओं के इस्तेमाल पर भी बहस छिड़ी। भारत की लोकतांत्रिक राजनीति इस वायदे पर आधारित है कि सभी धार्मिक समुदाय किसी भी पार्टी में शामिल होने के लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन कोई भी राजनीतिक दल धार्मिक समुदाय पर आधारित दल नहीं होगा। सांप्रदायिक सौहार्द के इस लोकतांत्रिक माहौल को 1984 के बाद से कई दफा चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। हम आठवें अध्याय में पढ़ चुके हैं कि ऐसा 1984 के सिख-विरोधी दंगों में हुआ। ठीक इसी तरह 2002 के फरवरी-मार्च में गुजरात के मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा भड़की। अल्पसंख्यक समुदाय के खिलाफ़ ऐसी हिंसा और दो समुदायों के बीच हिंसक टकराव लोकतंत्र के ऊपर खतरा है।

गुजरात के दंगे

2002 के फरवरी-मार्च में गुजरात में बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। गोधरा स्टेशन पर घटी एक घटना इस हिंसा का तात्कालिक उकसावा साबित हुई। अयोध्या की ओर से आ रही एक ट्रेन की बोगी कारसेवकों से भरी हुई थी और इसमें आग लग गई। सत्तावन व्यक्ति इस आग में मर गए। यह संदेह करके कि बोगी में आग मुसलमानों ने लगायी होगी। अगले दिन गुजरात के कई भागों में मुसलमानों

GUJARAT IS BURNING

Former MP's family among 70 dead

FT Correspondent
Ahmedabad, February 28

MORE THAN 70 people were killed and several injured as Gujarat reported incidents of stabbing, rioting, arson, looting and police firing on Thursday, a day after four bogies of the Sahyadri Express carrying kar sevaks from Ayodhya were set on fire in Godhra killing 59 people.

The Cabinet Committee on Security put the Army on stand-by in the riot-hit areas.

Over 26 towns statewide have been put under indefinite curfew. Vishwa Hindu Parishad (VHP) activists who had called a statewide bandh on Thursday to protest the killing of the kar sevaks, attacked several Muslim populated areas of the state and set fire to Muslim-owned properties.

Over 50 of those killed were in Ahmedabad. And 19 of them were relatives of former Congress MP Elhan Jaffrey, who himself was killed. They died when the building they lived in was set on fire in Meghaniagar in an earlier incident. 27 Muslim slum-dwellers were also burned alive.

The Ward Board offices in Candolim were burned down and the Centre for



BACKLASH: Riots set fire in Ahmedabad.

ple of mosques being attacked by VHP activists. Six buses and a truck were also set on fire.

Police arrested 200 people — 10 in Godhra, including two councillors — in connection with Wednesday's attack.

Two persons died and at least six were injured when police opened fire to disperse a rampaging mob in Ahmedabad on Thursday afternoon. Gujarat Chief Minister Narendra Modi has ordered a judicial enquiry of the attack. He said those responsible for the attack on the

“

27 फरवरी, 1947 को संविधान सभा से संबंधित मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यक तथा आदिवासी एवं अन्य मामलों की सलाहकार समिति की पहली ही बैठक में पटेल ने जोर देकर कहा था:

“यह हमारे ऊपर है कि हम इसे एक खोखला दावा, एक झूठा दावा साबित करें और जता दें कि अपने अल्पसंख्यकों की रक्षा की चिंता हमसे ज्यादा कोई नहीं कर सकता है। हमारा ध्येय उनमें से हर एक को संतुष्ट करना है। आइए, हम साबित करें कि हम अपने ऊपर शासन कर सकते हैं और किसी दूसरे पर शासन करने की हमारी महत्वाकांक्षा नहीं है।”

गुजरात की घटनाओं से देश मर्माहत है। इन घटनाओं की शुरुआत गोधरा-कांड से हुई और फिर लगातार दो महीने से भी ज्यादा हिंसा का तांडव मचा, जिससे पूरा राज्य दहल उठा। इसमें कोई शक नहीं है कि आयोग की राय में राज्य सरकार लोगों के जीवन, स्वतंत्रता, समता और गरिमा के हनन को रोकने में बुरी तरह नाकाम रही। घावों को भरना और शांति-सौहार्द से भरे भविष्य की राह तलाशना जरूरी है, लेकिन इन उच्च आदर्शों को पाने की कोशिश न्याय तथा देश के संविधान के मूल्यों और कानून की बुनियाद पर की जानी चाहिए।

”

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग
वार्षिक रिपोर्ट 2001-2002



क्या
यही हमारा
भविष्य होने जा रहा है?
क्या ऐसा कोई रास्ता नहीं है
कि हम इन बातों को बीते
हुए दिनों की बात
बना दें?



क्या
हम यह सुनिश्चित
कर सकते हैं कि जो
लोग ऐसे जनसंहार की
योजना बनाएँ, अमल करें
और उसे समर्थन दें, वे कानून
के हाथों से बच न पाएँ?
ऐसे लोगों को कम-से-कम
राजनीतिक रूप से तो
सबक सिखाया ही जा
सकता है।

के खिलाफ़ बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। हिंसा का यह तांडव लगभग एक महीने तक जारी रहा। लगभग 1100 व्यक्ति, जिनमें ज्यादातर मुसलमान थे, इस हिंसा में मारे गए। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने हिंसा को रोकने, भुक्तभोगियों को राहत देने तथा हिंसा करने वालों पर कानूनी कार्रवाई करने में असफल रहने के आरोप लगाते हुए गुजरात सरकार की आलोचना की। भारत के चुनाव आयोग ने गुजरात विधानसभा के चुनावों को रोकने का फैसला किया। 1984 के सिख-विरोधी दंगों के समान गुजरात के दंगों से भी यह जाहिर हुआ कि सरकारी मशीनरी सांप्रदायिक भावनाओं के आवेग में आ सकती है। गुजरात में घटी ये घटनाएँ हमें आगाह करती हैं कि राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक भावनाओं को भड़काना ख़तरनाक हो सकता है। इससे हमारी लोकतांत्रिक राजनीति को ख़तरा पैदा हो सकता है।

“

मुख्यमंत्री (गुजरात के) को मेरा संदेश है कि वे राजधर्म का पालन करें। शासक को अपनी प्रजा के बीच जाति, मत या धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए।

”

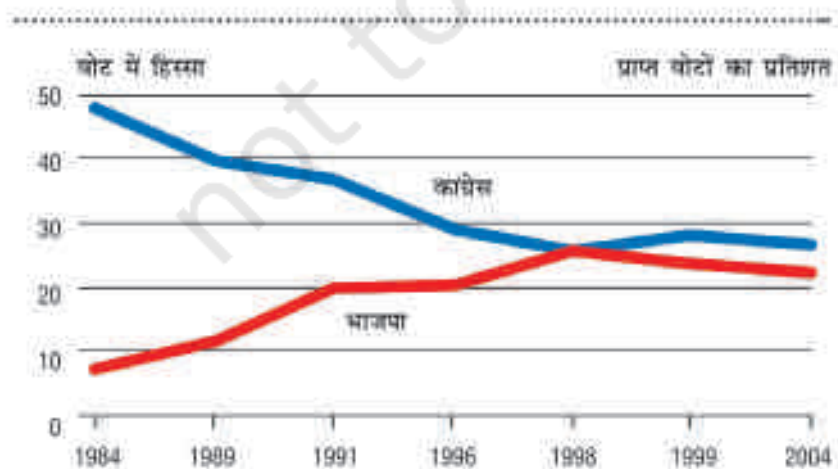
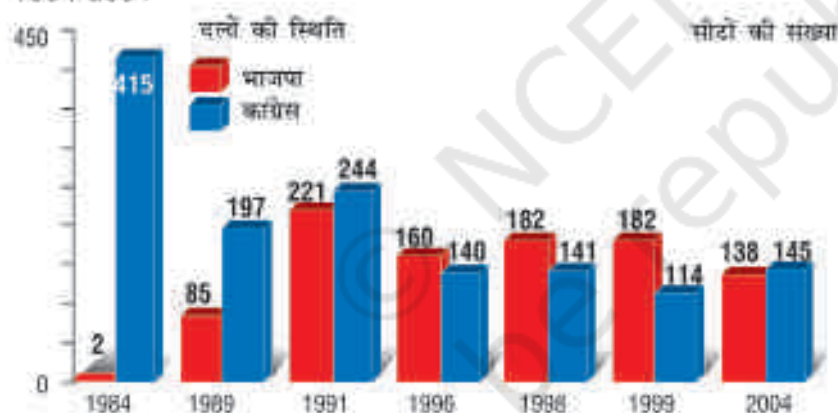
प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी

4 अप्रैल, 2002

एक नयी सहमति का उदय

1989 के बाद की अवधि को कभी-कभार कांग्रेस के पतन और भाजपा के अभ्युदय की भी अवधि कहा जाता है। यदि आप इस दौर की राजनीति के जटिल चरित्र को समझना चाहते हैं, तो आपको कांग्रेस और भाजपा की चुनावी हार-जीत की तुलना करनी पड़ेगी।

कांग्रेस और भाजपा की चुनावी जीत-हार : बदलता परिदृश्य 1984-2004



आइए, ऊपर दी गई तालिका की सूचनाओं के अर्थ खोजने की कोशिश करें।

- गौर कीजिए कि इस अवधि में भाजपा और कांग्रेस कठिन प्रतिस्पर्धा में लगे हुए थे। 1984 के चुनावों से तुलना करने पर आप इन पार्टियों की चुनावी सफलता में क्या अंतर पाते हैं?
- आप देखेंगे कि कांग्रेस और भाजपा दोनों को मिले वोटों को जोड़ दें, तब भी 1989 के बाद से उन्हें इतने वोट नहीं मिले कि वे कुल मतों के 50 फीसदी से ज्यादा हों। ठीक इसी तरह इन दोनों दलों को जितनी सीटें मिलीं, उन्हें जोड़ें। आप देखेंगे कि ये सीटें लोकसभा की कुल सीटों के 50 फीसदी से अधिक नहीं हैं। तो बाकी वोट और सीट कहाँ गए?
- आइए, दूसरे अध्याय की बातों को याद करें। आपने इस अध्याय में दो-पार्टी तंत्रों के बारे में पढ़ा था। आइए, इस किताब के आखिरी पन्नों पर नज़र डालते हैं। यहाँ कांग्रेस और जनता पार्टी-तंत्र के आरेख पर गौर कीजिए। मौजूदा दलों में ऐसे कौन-कौन-से दल हैं, जो न तो दलों के कांग्रेस परिवार में थे और न ही जनता पार्टी परिवार में? नब्बे के दशक में राजनीतिक मुकाबला भाजपा-नीत गठबंधन और कांग्रेस-नीत गठबंधन के बीच चला। क्या आप ऐसी पार्टियों की सूची बना सकते हैं, जो दोनों में से किसी गठबंधन में शामिल नहीं हैं?

2004 के लोकसभा चुनाव

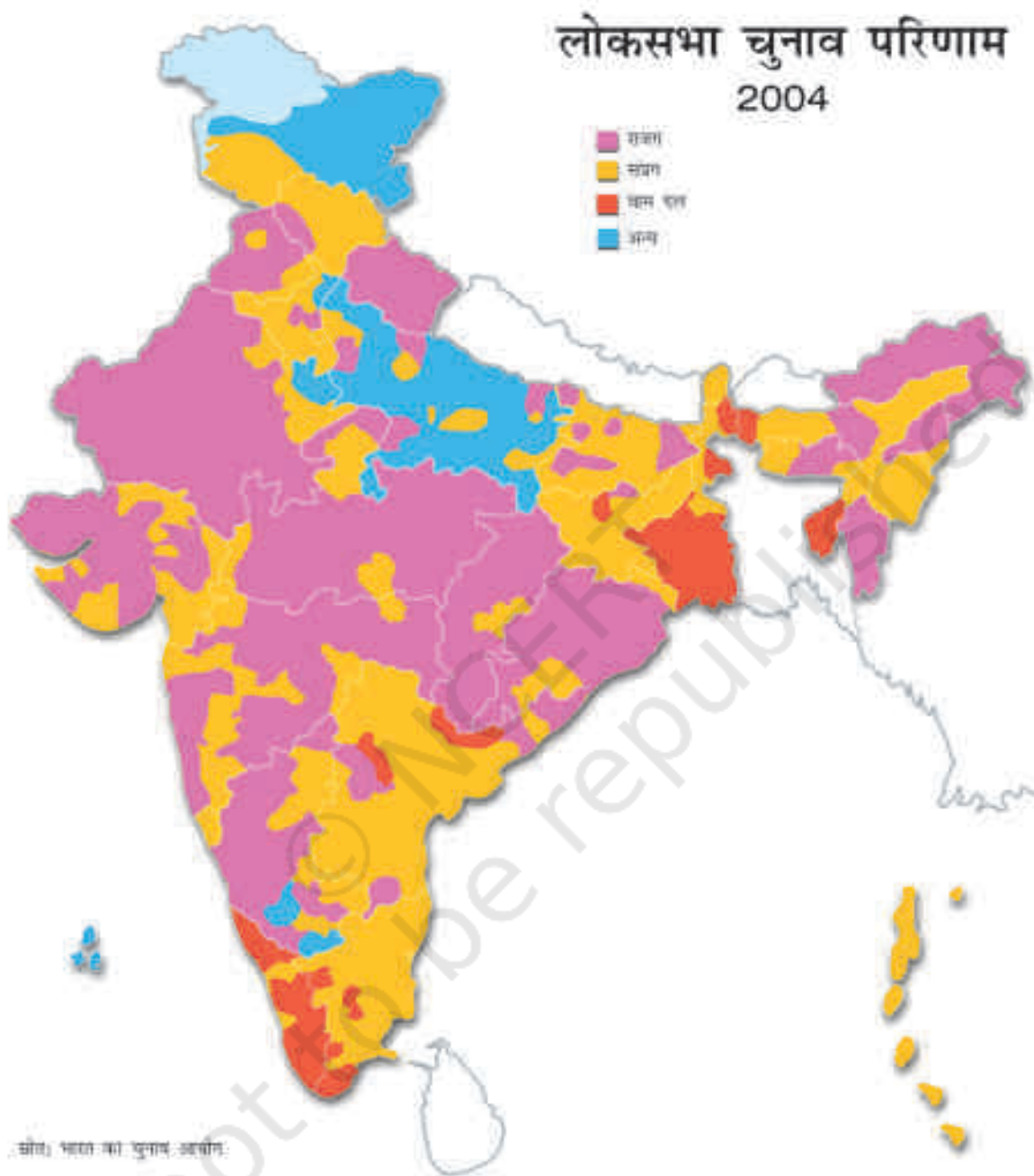
2004 के चुनावों में कांग्रेस भी पूरे जोर के साथ गठबंधन में शामिल हुई। राजग की हार हुई और संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की सरकार बनी। इस गठबंधन का नेतृत्व कांग्रेस ने किया। संप्रग को वाम मोर्चा ने समर्थन दिया। 2004 के चुनावों में एक हद तक कांग्रेस का पुनरुत्थान भी हुआ। 1991 के बाद इस दफा पार्टी की सीटों की संख्या एक बार फिर बढ़ी। बहरहाल, 2004 के चुनावों में राजग और संप्रग को मिले कुल वोटों का अंतर बड़ा कम था। इस तरह दलीय प्रणाली सत्तर के दशक की तुलना में एकदम ही बदल गई है।

1990 के दशक के बाद से हमारे सामने जो राजनीतिक प्रक्रिया आकार ले रही है, उसमें हम मुख्य रूप से चार तरह की पार्टियों के उभार को पढ़ सकते हैं : कांग्रेस के साथ गठबंधन में शामिल दल; भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल दल; वाम मोर्चा के दल और कुछ ऐसे दल जो इन तीनों में से किसी में शामिल नहीं हैं। इस स्थिति से संकेत मिलते हैं कि राजनीतिक मुकाबला बहुकोणीय होगा। इन स्थितियों का एक तकाजा राजनीतिक विचारधाराओं में हेर-फेर भी है।

बढ़ती सहमति

बहरहाल, अनेक महत्वपूर्ण मसलों पर अधिकतर दलों के बीच एक व्यापक सहमति है। कड़े मुकाबले और बहुत-से संघर्षों के बावजूद अधिकतर दलों के बीच एक सहमति उभरती सी जान पड़ रही है। इस सहमति में चार बातें हैं।

पहला, नयी आर्थिक नीति पर सहमति : कई समूह नयी आर्थिक नीति के खिलाफ़ हैं, लेकिन ज्यादातर राजनीतिक दल इन नीतियों के पक्ष में हैं। अधिकतर दलों का मानना है कि नई आर्थिक नीतियों से देश समृद्ध होगा और भारत, विश्व की एक आर्थिक शक्ति बनेगा।



दूसरा, पिछड़ी जातियों के राजनीतिक और सामाजिक दावे की स्वीकृति : राजनीतिक दलों ने पहचान लिया है कि पिछड़ी जातियों के सामाजिक और राजनीतिक दावे को स्वीकार करने की ज़रूरत है। इस कारण आज सभी राजनीतिक दल शिक्षा और रोज़गार में पिछड़ी जातियों के लिए सीटों के आरक्षण के पक्ष में हैं। राजनीतिक दल यह भी सुनिश्चित करने के लिए तैयार हैं कि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' को सत्ता में समुचित हिस्सेदारी मिले।

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

तीसरा, देश के शासन में प्रांतीय दलों की भूमिका की स्वीकृति : प्रांतीय दल और राष्ट्रीय दल का भेद अब लगातार कम होता जा रहा है। हमने इस अध्याय में देखा कि प्रांतीय दल केंद्रीय सरकार में साझीदार बन रहे हैं और इन दलों ने पिछले बीस सालों में देश की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

चौथा, विचारधारा की जगह कार्यसिद्धि पर जोर और विचारधारागत सहमति के बगैर राजनीतिक गठजोड़ : गठबंधन की राजनीति के इस दौर में राजनीतिक दल विचारधारागत अंतर की जगह सत्ता में हिस्सेदारी की बातों पर जोर दे रहे हैं, जो मिसाल के लिए अधिकतर दल भाजपा की 'हिंदुत्व' की विचारधारा से सहमत नहीं हैं, लेकिन ये दल भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल हुए और सरकार बनाई, जो पाँच साल तक चली।

ये सभी महत्वपूर्ण बदलाव हैं और आगामी राजनीति इन्हीं बदलावों के दायरे में आकार लेगी। भारत की राजनीति के इस अध्ययन की शुरुआत में हमने चर्चा की थी कि कांग्रेस किस तरह एक प्रभावशाली पार्टी बनकर उभरी। इस स्थिति से चलकर अब हम एक ऐसे पड़ाव पर पहुँचे हैं, जहाँ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा कहीं ज्यादा तेज है लेकिन इस प्रतिस्पर्धी राजनीति के बीच मुख्य राजनीतिक दलों में कुछेक मसलों पर सहमति है। अगर राजनीतिक दल इस सहमति के दायरे में सक्रिय हैं, तो जन आंदोलन और संगठन विकास के नए रूप, स्वप्न और तरीकों की पहचान कर रहे हैं। गरीबी, विस्थापन, न्यूनतम मजदूरी, आजीविका और सामाजिक सुरक्षा के मसले जन आंदोलनों के जरिए राजनीतिक एजेंडे के रूप में सामने आ रहे हैं। ये आंदोलन राज्य को उसकी ज़िम्मेदारियों के प्रति सचेत कर रहे हैं। इसी तरह लोग जाति, लिंग, वर्ग और क्षेत्र के संदर्भ में न्याय तथा लोकतंत्र के मुद्दे उठा रहे हैं। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि भारत में लोकतांत्रिक राजनीति जारी रहेगी और यह राजनीति इस अध्याय में वर्णित कुछ चीजों के मंथन के बीच आकार ग्रहण करेगी।

मेरा
सवाल है कि
क्या लोकतंत्र बचेगा



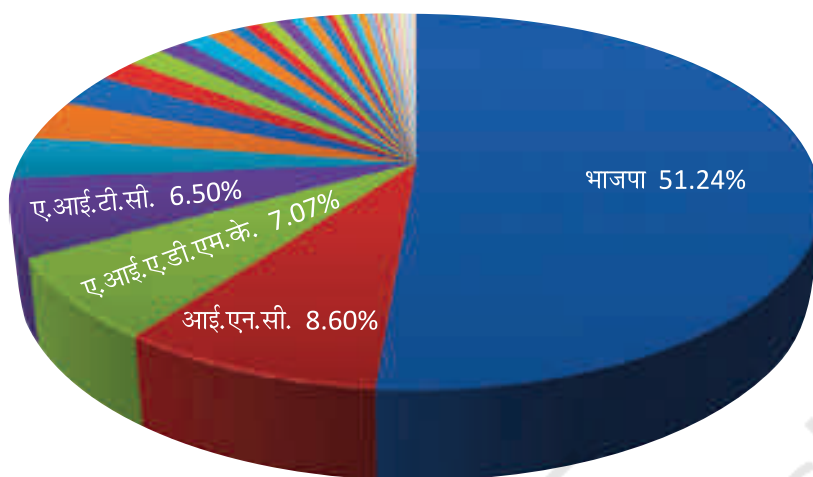
या
फिर, असली
सवाल यह हो सकता है
कि क्या लोकतंत्र के भीतर
से सार्थक नेतृत्व उभर कर
सामने आएगा?



साभार: रविशंकर / इंडिया टुडे

16वीं लोकसभा में विभिन्न दलों की स्थिति

(27 दिसंबर 2018 की स्थिति)



भारतीय जनता पार्टी	268	राष्ट्रीय लोक समता पार्टी	3
इंडियन नेशनल काँग्रेस	45	अपना दल	2
ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम	37	इंडियन नेशनल लोक दल	2
ऑल इंडिया तृणमूल काँग्रेस	34	इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग	2
बीजू जनता दल	19	जनता दल (सेक्यूलर)	2
शिवसेना	18	जनता दल (यूनाइटेड)	2
तेलुगु देशम	15	झारखण्ड मुक्ति मोर्चा	2
तेलंगाना राष्ट्र समिति	10	ऑल इंडिया मजलिस-ए-इत्तेहादुल मुस्लिमीन	1
कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्ससिस्ट)	9	ऑल इंडिया एन.आर. काँग्रेस	1
नेशनलिस्ट काँग्रेस पार्टी	7	कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया	1
समाजवादी पार्टी	7	जम्मू एण्ड कश्मीर नेशनल काँग्रेस	1
लोक जन शक्ति पार्टी	6	जम्मू एण्ड कश्मीर पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी	1
आम आदमी पार्टी	4	नेशनलिस्ट डेमोक्रेटिक प्रोग्रेसिव पार्टी	1
राष्ट्रीय जनता दल	4	पट्टालि मक्कल काँची	1
शिरोमणि अकाली दल	4	राष्ट्रीय लोक दल	1
युवजन श्रमिक रायथु काँग्रेस पार्टी	4	रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	1
ऑल इंडिया यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट	3	सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट	1
निर्दलीय	3	स्वाभिमानी पक्ष	1

स्रोत : <http://loksabha.nic.in>

1. उन्नी-मुन्नी ने अखबार की कुछ कतरनों को बिखेर दिया है। आप इन्हें कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित करें:

- (क) मंडल आयोग की सिफारिश और आरक्षण विरोधी हंगामा
- (ख) जनता दल का गठन
- (ग) बाबरी मस्जिद का विध्वंस
- (घ) इंदिरा गाँधी की हत्या
- (ङ) राजग सरकार का गठन
- (च) संप्रग सरकार का गठन
- (छ) गोधरा की दुर्घटना और उसके परिणाम

2. निम्नलिखित में मेल करें:

- | | |
|---------------------------------------|-------------------------------|
| (क) सर्वानुमति की राजनीति | (i) शाहबानो मामला |
| (ख) जाति आधारित दल | (ii) अन्य पिछड़ा वर्ग का उभार |
| (ग) पर्सनल लॉ और लैंगिक न्याय | (iii) गठबंधन सरकार |
| (घ) क्षेत्रीय पार्टियों की बढ़ती ताकत | (iv) आर्थिक नीतियों पर सहमति |

3. 1989 के बाद की अवधि में भारतीय राजनीति के मुख्य मुद्दे क्या रहे हैं? इन मुद्दों से राजनीतिक दलों के आपसी जुड़ाव के क्या रूप सामने आए हैं?
4. “गठबंधन की राजनीति के इस नए दौर में राजनीतिक दल विचारधारा को आधार मानकर गठजोड़ नहीं करते हैं।” इस कथन के पक्ष या विपक्ष में आप कौन-से तर्क देंगे।
5. आपातकाल के बाद के दौर में भाजपा एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरी। इस दौर में इस पार्टी के विकास-क्रम का उल्लेख करें।
6. कांग्रेस के प्रभुत्व का दौर समाप्त हो गया है। इसके बावजूद देश की राजनीति पर कांग्रेस का असर लगातार कायम है। क्या आप इस बात से सहमत हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।
7. अनेक लोग सोचते हैं कि सफल लोकतंत्र के लिए दो-दलीय व्यवस्था जरूरी है। पिछले तीस सालों के भारतीय अनुभवों को आधार बनाकर एक लेख लिखिए और इसमें बताइए कि भारत की मौजूदा बहुदलीय व्यवस्था के क्या फायदे हैं।
8. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:
 भारत की दलगत राजनीति ने कई चुनौतियों का सामना किया है। कांग्रेस-प्रणाली ने अपना खात्मा ही नहीं किया, बल्कि कांग्रेस के जमावड़े के बिखर जाने से आत्म-प्रतिनिधित्व की नयी प्रवृत्ति का भी जोर बढ़ा। इससे दलगत व्यवस्था और

विभिन्न हितों की समाई करने की इसकी क्षमता पर भी सवाल उठे। राजव्यवस्था के सामने एक महत्वपूर्ण काम एक ऐसी दलगत व्यवस्था खड़ी करने अथवा राजनीतिक दलों को गढ़ने की है, जो कारगर तरीके से विभिन्न हितों को मुखर और एकजुट करें...

– जोया हसन

- (क) इस अध्याय को पढ़ने के बाद क्या आप दलगत व्यवस्था की चुनौतियों की सूची बना सकते हैं?
- (ख) विभिन्न हितों का समाहार और उनमें एकजुटता का होना क्यों जरूरी है।
- (ग) इस अध्याय में आपने अयोध्या विवाद के बारे में पढ़ा। इस विवाद ने भारत के राजनीतिक दलों की समाहार की क्षमता के आगे क्या चुनौती पेश की?

खुद करें-खुद सीखें

- इस अध्याय में 2004 के चुनाव (14वीं लोकसभा) तक भारतीय राजनीति की प्रमुख घटनाओं को शामिल किया गया है। इसके बाद लोकसभा चुनाव 2009 में आयोजित किए गए, जिसके दौरान कांग्रेस के नेतृत्व में संग्रह की जीत हुई। 2014 के चुनाव में भाजपा के नेतृत्व वाली राजग विजेता बन कर उभरी। 16वीं लोकसभा में विभिन्न दलों की स्थिति पृष्ठ 193 पर दर्शाई गई है।
- 16वीं लोकसभा के सदस्यों का एक विस्तृत अध्ययन लोकसभा की वेबसाइट (<http://loksabha.nic.in>) पर उपलब्ध है।
- भारत निर्वाचन आयोग की वेबसाइट (<http://eci.nic.in>) से परिणामों के बारे में आँकड़े एकत्र करके 2009 के चुनाव (15वीं लोकसभा) और 2014 के चुनाव (16वीं लोकसभा) में विभिन्न राजनीतिक दलों के चुनावी प्रदर्शन की तुलना करें।
- 2004 के बाद से भारत में प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का एक घटनाक्रम तैयार करें और अपनी कक्षा में उस पर चर्चा करें।



केन्द्रीय सतर्कता आयोग CENTRAL VIGILANCE COMMISSION

सत्यनिष्ठा प्रतिज्ञा
INTEGRITY PLEDGE

मेरा विश्वास है कि हमारे देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रगति में भ्रष्टाचार एक बड़ी बाधा है। मेरा विश्वास है कि भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए सभी संबंधित पक्षों जैसे सरकार, नागरिकों तथा निजी क्षेत्र को एक साथ मिल कर कार्य करने की आवश्यकता है।

मेरा मानना है कि प्रत्येक नागरिक को सतर्क होना चाहिए तथा उसे सदैव ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा के उच्चतम मानकों के प्रति वचनबद्ध होना चाहिए तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष में साथ देना चाहिए।

अतः, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि :-

- जीवन के सभी क्षेत्रों में ईमानदारी तथा कानून के नियमों का पालन करूँगा ;
- ना तो रिश्वत लूँगा और ना ही रिश्वत दूँगा ;
- सभी कार्य ईमानदारी तथा पारदर्शी रीति से करूँगा ;
- जनहित में कार्य करूँगा ;
- अपने निजी आचरण में ईमानदारी दिखाकर उदाहरण प्रस्तुत करूँगा ;
- भ्रष्टाचार की किसी भी घटना की रिपोर्ट उचित एजेन्सी को दूँगा ।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग (सी.वी.सी.) के बारे में जानकारी के लिए लॉग ऑन करें,
www.cvc.nic.in